देश्य

का संरक्षण तथा प्रसार।
का विवेचन।
का अनुसंधान।
विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

नवीन पुस्तकें

संस्कृत साहित्य का इतिहास

प्रथम भाग—इस ग्रंथ में काव्यशास्त्र के सुप्रसिद्ध रीति-ग्रंथों एवं उनके प्रणेताओं के परिचय तथा काल-निर्णय के संबंध में ऐतिहासिक निरूपण किया गया है। पृष्ठ-संख्या ३३४। सजिल्द प्रति का मूल्य सवा रुपया मात्र।

द्वितीय भाग—इसमें काव्यग्रंथों के विषय, काव्य के प्रयोजन और हेतु एवं काव्य के लक्षण आदि पर विभिन्न आचार्यों के मतों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और काव्य के पंच सिद्धांत—रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि—का स्पष्टीकरण तथा इनके पाँचों संप्रदायों का आलोचनात्मक विवेचन कर उनका रहस्योद्घाटन किया गया है। पृष्ठसंख्या २१४, सजिल्द पुस्तक का दाम केवल सवा रुपया।

जयपुर-नरेश महाराज सवाई जयसिंहजी द्वितीय
(१६८६—१७४३ ई०)

चित्र १

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ४७-अंक ३-४ [नवीन संस्करण] कार्तिक-माघ १९९९

मानमंदिर बनारस *

[लेखक—प्रो० चंडीप्रसाद]

यह प्रसिद्ध भवन बनारस के मणिकर्णिका घाट के दक्षिण ओर दशाश्वमेध घाट के पास है। गंगाजी से मानमंदिर तक पत्थर की सीढ़ियाँ लगी हुई हैं। १७वीं शताब्दी के आरंभ में आमेर के राजा मानसिंह ने यह 'मौन-मंडल' साधुओं और यात्रियों के ठहरने के लिये बनवाया था। सन् १६१४ ई० में राजा साहब की मृत्यु हो गई। सवा सौ वर्ष बाद उनके वंश के महाराजा सवाई जयसिंह[1] ने इस मकान की छत पर ज्योतिष के कई

* नागरीप्रचारिणी सभा की 'प्रसाद व्याख्यानमाला' में २६ चैत्र '९८ को हुए लेखक के व्याख्यान का लेख-रूप।

१—जयसिंह जब १३ वर्ष के बालक थे तभी गद्दी पर बैठे। उन्हें बादशाह औरंगजेब के यहाँ सलाम करने जाना था। वहाँ उनसे जिन प्रश्नों के किए जाने

यंत्र बनवाए। महाराज जयसिंह को इस विद्या से बड़ी रुचि थी। उन्होंने कई विद्वानों को इस काम में लगाया जो वेध किया करते थे। एक हजार अट्ठारह तारों की स्थितियाँ लिखी गई हैं। उन्होंने ज्योतिष के अध्ययन के लिये कई विद्वानों को भारत के बाहर भी भेजा और दूर दूर से जानकारों को बुलवाया था। दो फ्रांसीसी पादरी चंदरनगर से सन् १७३० ई० में जयपुर बुलाए गए थे। दिल्ली में सन् १७१० ई० और जयपुर में सन् १७२६-३४ ई० में वेधशालाएँ बनवाई गईं और ये बनारस, उज्जैन तथा मथुरा में भी बनीं। जयनगर या जयपुर स्वयं जयसिंह ने बसाया था। इस शहर का नकशा बंग-प्रदेश-निवासी विद्याधर नामक व्यक्ति ने बनाया था। बनारस की वेधशाला

की संभावना थी उनके उत्तर मंत्रियों और उनकी माँ ने बताए। बालक ने कहा कि यदि मुझसे इनमें से कुछ न पूछा जाय तो मैं क्या करूँगा। माँ ने कहा—ईश्वर और गुरु पर विश्वास करके जो मुँह से निकले, कह देना। दर्बार पहुँचने पर औरंगजेब क्रोध से आँखें लाल कर, तुरत तख्त से उतर पड़ा और राजा के दोनों हाथ पकड़कर बोला—तुम्हारे पिता और पितामह ने मुझे बहुत हानि पहुँचाई थी, अब मुझे तुम्हारे साथ क्या करना चाहिए? बालक ने शांति पूर्वक उत्तर दिया—"जहाँपनाह! भारत में विवाह के समय जब कोई आदमी एक हाथ पकड़ लेता है तो उसको आजन्म निर्वाह करना पड़ता है, अब तो दिल्ली के छत्रपति ने मेरे दोनों हाथ पकड़ लिए हैं तो अब मुझको किससे भय है और मैं क्या माँगूँ!" इस उत्तर से बादशाह ऐसा प्रसन्न हुआ कि गद्दी पर उसने उन्हें अपने बगल में आसन दिया और कहा कि तुम अपने पिता से बहुत बढ़कर हो इसलिये तुम्हें आज से 'सवाई' का खिताब दिया जाता है।

एक बार की घटना है कि बादशाह ने उनकी राजधानी आमेर देखने की इच्छा प्रकट की। इनके महल के लाल पत्थर के खंभे इतने सुंदर थे कि इन्होंने उस पर शीघ्र ही पलस्तर करा दिया कि बादशाह की दृष्टि उस पर न पड़े। इन्होंने अपना तुला-दान एक बार सोने से और दस बार चाँदी से कराया था। अश्वमेध-यज्ञ भी किया और हिंदू त्योहारों पर एक पुस्तक 'कल्प-द्रुम' लिखवाई थी।

कदाचित् सन् १७३७ ई० की है। समरथ जगन्नाथ[1] ने, जो राजा साहब के साथ इस विषय का काम करते थे, इस वेधशाला का नकशा बनवाया था और सदाशिव ममकाजीन के निरीक्षण में सर्दार महोन ने, जो जयपुर के एक कुम्हार थे, यह वेधशाला तैयार की।

दिगंश-यंत्र—सीढ़ियाँ तै करने के बाद छत पर पहुँचने पर सामने पहले दिगंश-यंत्र मिलता है।

दिगंश-यंत्र
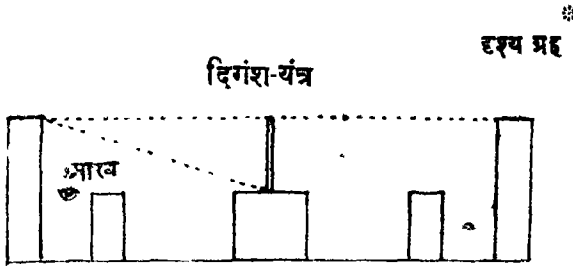
चित्र सं० १

दो गोलाकार दीवारें हैं और प्रत्येक के ऊपरी सिरे पर सिरे की पूरी लंबाई भर ० से ३६०° अंश तक के चिह्न पत्थर पर खुदे हुए हैं। एक अंश दस हिस्सों में और ये हिस्से दो-दो टुकड़ों में बँटे हैं। इस प्रकार छोटा हिस्सा ३ मिनट (कला) का हुआ। बाहरी गोलाकार दीवार ३१½ फुट व्यास के घेरे में, ८ फुट ४ इंच ऊँची है। इसी के अंकों पर दिगंश पढ़ा जाता है। भीतरी गोल दीवार २१ फुट के व्यास में है और ४ फुट २ इंच अर्थात् बाहरी दीवार की आधी ऊँची है। इसके पास आँख लगाकर द्रष्टव्य पिंड पर, जो सूर्य्य, चंद्र या तारा हो, दृष्टि लगाते हैं।

१—जगन्नाथ मरहठा ब्राह्मण थे। ये अरबी के भी विद्वान् थे। इन्होंने महाराज जयसिंह के लिये कई अरबी पुस्तकों का अनुवाद संस्कृत में किया। यूक्लिड की रेखागणित का और टाल्मी के अल्मजेस्ती (=राजश्रेष्ठ) का, जिसका नाम सम्राट्-सिद्धांत रक्खा, इन्होंने अनुवाद किया। आज से १८०० वर्ष पहले टाल्मी यूनान का एक प्रसिद्ध ज्योतिषी था। इस पुस्तक का अनुवाद अरबी भाषा में हुआ था। यह प्रसिद्ध पुस्तक एक हजार वर्ष से अधिक समय तक योरप और अरब के प्रदेशों में प्रचलित रही।

बाहरी दीवार के ऊपर चारों प्रधान दिशाओं में चार काँटे लंबरूप में जड़े हैं। उनमें एक तार पूर्व से पश्चिम और दूसरा उत्तर से दक्षिण कसकर बँधा था। अब ये टूटकर निकल गए हैं। इस प्रकार दोनों तार एक दूसरे से उन दोनों गोल दीवारों के केंद्र पर मिलते हैं। उसके नीचे एक गोल खंभा ३ फुट ७½ इंच व्यास का और ४ फुट २ इंच ऊँचा है। इस पर भी अंशों के चिह्न बने हैं और इसके बीच में एक जस्तेदार लोहे का २ इंच मोटा गोल पाइप (नल) खंभे की भाँति गड़ा है। इस पाइप का ऊपरी छोर बाहरी बड़ी गोल दीवार के सिरे के धरातल में है। इस प्रकार दोनों बँधे हुए तारों का छेदन बिंदु पाइप के ठीक केंद्र पर रहता है। खंभे की जड़ में एक ढीला लोहे का छल्ला लगा हुआ है। इसमें चार छेद हैं। उसमें एक तागा कसकर बाँधा जाता है और इस तागे के दूसरे सिरे में एक ढेला बाँधकर बाहरी दीवार के ऊपर से बाहर लटकाया जाता है। इसको खिसका-खिसकाकर तब तक परीक्षा की जाती है जब तक आँख से द्रष्टव्य पिंड उस तागे की ओट में इस तरह दिखाई पड़े कि बीच का केंद्र भी उसी तागे की ओट में हो। तब दिगंश पढ़ लिया जाता है। इस प्रयोग में तागा और आँख दोनों को बराबर बराबर हटाना पड़ता है। तागे को दूसरा आदमी हटाता है।

जयपुर के दिगंश-यंत्र में, जिसका वर्णन पं० गोकुलचंद्रजी ने अपनी पुस्तक में लिखा है, उपर्युक्त गोल पाइप नहीं है। केवल एक छोटा सछिद्र शंकु सूत्र बाँधने के लिये है और उसके ऊपर जहाँ दोनों तार एक दूसरे को काटते हैं एक गोल पत्र बँधा है। इस पत्र के बीच में एक छेद है, जिसके भीतर से सूर्य की रोशनी जाकर दूसरी तरफ धरती या भीत पर पड़ती है। यदि तारा या ग्रह देखना हो तो दूसरी तरफ एक आदमी अपनी एक आँख लगाकर उस वस्तु पर छेद के भीतर से देखता रहता है। आँख आवश्यकतानुसार दूसरी भीत से भीतर या बाहर रहती है। चित्र में आँख बाहर है। इस रीति से जो सीधी लकीर दृश्य वस्तु से उस छेद में गिरती है, उसका दूसरी तरफ निकलने का पथ ठीक मिल जाता है। अब वह तागा, जिसमें ढेला बँधा होता है, दूसरा आदमी खिसका खिसकाकर ठीक इस पथ के बीच में लगाता है और धूप में तागे की छाया को दूसरी गोल भीत पर

सुगमता से पढ़ लेता है। बाहरी भीत पर भी वही अंक पढ़े जाते हैं। तागा खिसकाकर सूर्य की किरण के पथ को ठीक बीच में लाना एक मनुष्य भी कर सकता है और तागे की परछाहीं धूप में दूसरी भीत के ऊपर स्पष्ट पड़ती है, और पढ़ी जाती है। केवल पाइप के व्यवहार से उतना सूक्ष्म ज्ञान न होगा। छाया-मध्य से पूर्व अथवा पश्चिम बिंदु तक दिगंश है और उत्तर अथवा दक्षिण बिंदु तक दिगंश कोटयंश है।

दिगंश-यंत्र की बाहरी भीत में पूर्व ओर एक छोटी सी खिड़की है। विषुवद् दिनों में बीचवाली भीत पर आँख लगाकर इस (खिड़की) में से सूर्योदयकालिक दिगंश का ज्ञान किया जा सकता है।

चक्र-यंत्र—दिगंश यंत्र से पश्चिम छोटा सम्राट् यंत्र है जिसके उत्तर में चक्र यंत्र है। यह लोहे का एक भारी गोलाकार छल्ला है। इसका व्यास

चक्रयंत्र
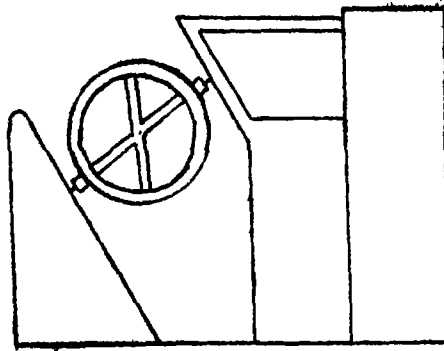
चित्र सं० २

३ फुट ७ इंच है, और यह १ इंच मोटा तथा २ इंच चौड़ा है। इसके ऊपर पीतल की $\frac{1}{8}$ इंच मोटी चद्दर जड़ी है, जिस पर अंश, अर्धांश और चतुर्थांश के चिह्न क्रांति पढ़ने के लिये चारों ओर बने हैं। इस छल्ले के एक व्यास के सिरों पर एक एक खूँटी जड़ी है। ये खूँटियाँ उत्तर और दक्षिण दीवार के छेदों में कसकर घूमती हैं। दीवारों के छेद ऐसी स्थिति में हैं कि ये खूँटियाँ ठीक पृथ्वी की धुरी (अक्ष) की

सीध में हैं, जिससे कि छल्ला सदैव पृथ्वी की धुरी के समानांतर धुरी के बल घूम सके। निशाना ठीक करने के लिये यंत्र के केंद्र में पीतल की एक खोखली पतली नलिका ऐसी लगी है कि चारों तरफ घूम सकती है। इस नली के भीतर से दृश्य-वस्तु देखकर और उसे ठीक बीचोबीच रखकर क्रांति पढ़ सकते हैं। जब सूर्य्य की रोशनी इसके बीच से निकलती है तो दूसरी ओर कागज पर गोलाकार धूप दीख पड़ती है। तारा देखने के लिये तारे को आँख से ठीक नलिका के बीचोबीच में लाते हैं और क्रांति पढ़ लेते हैं। यह नली छल्ले के बीच में एक पिन द्वारा ढीली जड़ी है। इस पिन के एक सिरे पर घोड़े के मुँह का चिह्न[१] बना है, जैसा कि मुसलमानी देशों की वेधशालाओं में पाया जाता है। मिस्टर के कहते हैं कि राजा साहब पर समरकंद के बादशाह उलुग बेग[२] (तैमूर लंग के पौत्र) का यथेष्ट प्रभाव था। उलुग बेग भी राजा जयसिंह की तरह गणित-ज्योतिष के प्रेमी थे। इनका एक पाद-यंत्र लगभग १८० फुट ऊँचा था।

दक्षिण की दीवार पर खूँटी के छेद के चारों तरफ एक वृत्त, माप-रेखा सहित, खुदा है। इससे जान पड़ता है कि घूमनेवाले छल्ले में कभी एक समय बतानेवाला निर्देशक (प्वाइंटर) भी लगा था। इस ओर छल्ले में एक छेद भी है।

नाड़ी-वलय यंत्र—तीसरा यन्त्र एक पत्थर का गोला ४ फुट ७ इंच व्यास का है। इसके दोनों पेटे इस तरह लगे हैं कि पृथ्वी के विषुवत् के समानांतर रहें। यह पत्थर आदमी की कमर की ऊँचाई पर खंभों से जड़ा है। उत्तरीय निरक्ष-तल पर चारों ओर अंशों और घंटा, मिनट के चिह्न

१—ज्योतिष शास्त्र का प्रधान देव सूर्य है। सूर्य का वाहन अश्व है। क्या इसी आधार पर प्राचीन आचार्यों ने अश्वमुखाकृति की कल्पना की है?

२—उलुग बेग ने टालमी के 'अल्मजेस्ती' का अनुवाद किया था। उसकी हत्या सन् १४४९ ई० में हुई। उसने १०१८ तारों की सूची बनाई थी। कहा जाता है कि मुहम्मदशाह ने जयसिंह को इस सूची को शुद्ध वर्तमान रूप में लाने के लिये नियुक्त किया था। जयसिंह ने ७ वर्ष के परिश्रम के बाद सन् १७२८ ई० में 'जिज मुहम्मदशाही' नामक पुस्तक प्रकाशित की।

खुदे हुए हैं और ठीक केंद्र पर एक लोहे की खूँटी (५ इंच लंबी और पौन इंच मोटी) जड़ी है जिसकी परछाहीं से घंटा, मिनट, जब सूर्य्य उत्तरी अक्षांश में हो, पढ़ सकते हैं। परछाहीं की मध्य रेखा की स्थिति पढ़नी चाहिए। नक्षत्र या तारे जब दक्षिण से उत्तर अक्षांश में आवें तो देखे जा सकते हैं। सायन मेष की संक्रांति से सूर्य्य पत्थर के इस तल से उत्तर और तुला की संक्रांति से दक्षिण हो जाता है। इस पत्थर के दक्षिण तल पर भी एक छोटा २ फुट ४ इंच व्यास का वृत्त अंकों सहित खुदा है और बीच में एक खूँटी परछाहीं डालने के लिये लगी है।

नाड़ीवलय यंत्र
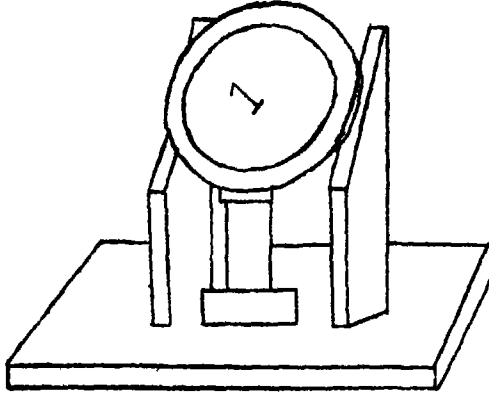
चित्र सं० ३

इस यंत्र के दक्षिण ओर उसी चबूतरे पर एक चौकोर पत्थर का खंभा ५$\frac{3}{4}$"×५$\frac{1}{2}$" मोटा खड़ा है। खंभे के दक्षिण पृष्ठ में इसके मस्तक पर एक छिद्र है, जिसमें संभवतः खूँटी रही होगी। इस बात का निश्चय करना कि खंभा किस लिये बनाया गया था, कठिन है। क्या इस खूँटी से सेकेंड दोलक लटकाया जाता था? इस खूँटी की ऊँचाई ऐसी है कि दोलक लंबे क्लाक के दोलक की भाँति एक सेकेंड में एक ओर से दूसरी ओर तक पहुँचता।

इस खंभे के पश्चिम तरफ ऊपरी भाग में एक रेखा भूमि की धुरी के ठीक समानांतर है। नाड़ी-वलय में जो लोहे की खूँटी है यदि वह कभी टूट जाय तो इस रेखा से ठीक की जा सकती है।

सम्राट्-यंत्र[1]—दो सम्राट् यंत्र हैं। दिगंश-यंत्र के पश्चिम में उसके निकट तो एक छोटा और दूर पर एक बड़ा। बड़े सम्राट् यंत्र में बीच में दो ढालू दीवारें ५ फुट ६ इंच के अंतर पर हैं। इनकी चोटी ठीक आकाशीय ध्रुव को सूचित करती है। दोनों दीवारों के बीच में ऊपर चढ़ने के लिये पत्थर

सम्राट्-यंत्र
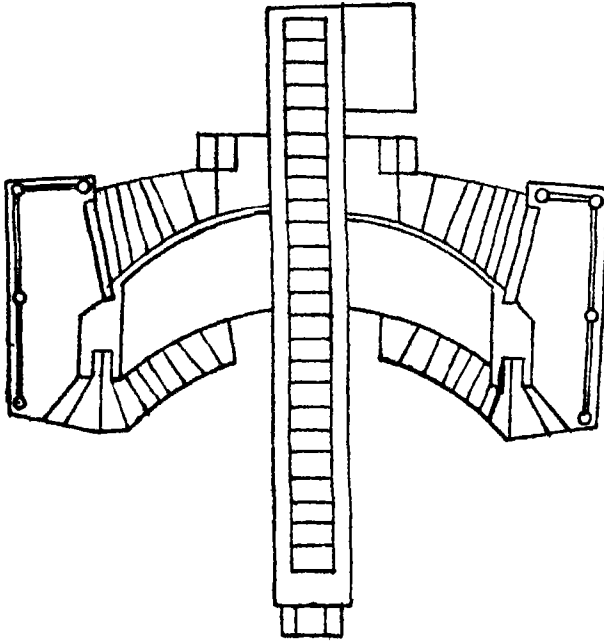
चित्र सं० ४

की सीढ़ियाँ लगी हैं। इन दोनों दीवारों के बाहरी किनारे पृथ्वी की धुरी (अक्ष) के समानांतर हैं और इनकी परछाहीं से प्रातःकाल तो पश्चिमी और दोपहर के उपरांत पूर्वी भुजाओं पर—जिन पर घंटे, मिनट, चौथाई मिनट, घड़ी और पल के चिह्न बने हुए हैं—समय पढ़ा जा सकता है। ये

१—सम्राट् की अपेक्षा सम-रात शब्द अधिक उपयोगी होता। यह यंत्र विषुव पर निर्भर है। अँगरेजी में Equinox शब्द का अर्थ सम-रात है। परंतु संभवत: अपने बृहत् आकार या अधिक उपयोगिता के कारण जयसिंह ने इसे यंत्रों में सम्राट् की पदवी दी है।

दोनों भुजाएँ विषुववृत्त के समानांतर चौथाई गोल, बेलनाकार रूप में हैं और इनके उत्तरी और दक्षिणी किनारों पर एक ही तरह के चिह्न खुदे हुए हैं।

अब हम ढालू दीवारों के ऊपर के चिह्नों को देखें तो इन दोनों भुजाओं के केंद्रों से, जो शंकु के किनारे पर हैं, दो माप के चिह्न ऊपर और नीचे की ओर ढालू दीवार के ऊपरी तल पर बने हैं जिसमें अंश और दशमांश (६ पल) खुदे हैं। जो निशान ऊपर गए हैं वे नीचे के केंद्र से हैं और जो नीचे गए हैं वे ऊपर के केंद्र से हैं। ऊपरवाला चिह्न लगभग ६९° ३५′ है और नीचेवाला ६६° २४′ है। इन चिह्नों से उत्तर दक्षिण क्रांति को ठीक ठीक पढ़ सकते हैं।

सूर्य्य की क्रांति पढ़ने के लिये यदि सीधे किनारेवाला एक पोस्ट कार्ड दीवार के ऊपर चपटा रखा जाय और उसके किनारे की परछाहीं नीचे की भुजाओं पर डाली जाय तो सुगमता होगी। इस परछाहीं का कोना भुजा के पत्थर के ठीक किनारों पर पड़ना चाहिए।

यह ध्यान रखना चाहिए कि सूर्य्य एक चमकदार गोला है जिसकी चौड़ाई आधे अंश से कुछ अधिक है। पूर्व से मध्याह्न वृत्त को पार करने में लगभग २ मिनट का समय लगता है। सूर्य्य की माप सदैव सूर्य्य के केंद्र से की जाती है। इसलिये शंकु के किनारे की परछाहीं, जो भुजाओं पर पड़ती है, पतली नहीं बल्कि मोटी (अस्फुट) सी दिखाई पड़ती है। इसलिये इस परछाहीं का मध्य पढ़ना चाहिए। समय या क्रांति पढ़ने में एक कठिनाई होती है जो अपनी भूल से होती है और निजी भूल कहलाती है। हर एक देखनेवाला अपना अपना मध्य मानता है और उसी को पढ़ता है। क्रांति पढ़ने के लिये यदि कार्ड को एक बार नीचे से ऊपर धीरे धीरे दीवार पर खिसकाएँ और दूसरी बार ऊपर से नीचे को और दोनों बार की क्रियाओं मे जब कार्ड की परछाहीं पत्थर के किनारे पर आ जाय, तब पढ़ लें तो हमको दो माप मिलेंगे। इन मापों का मध्यमान (औसत) ठीक ठीक क्रांति बता देगा।

इस रीति से कोई भी मनुष्य अपनी भूल का अंदाजा कर सकता है। दोनों मापों का अंतर, जो हम ऊपर की रीति से मालूम कर सकते हैं, आधे अंश से जितना कम हो, वही हमारी निजी भूल होगी। मेरे देखने

में तो साधारणतः दोनों मापों का अंतर ½ अंश आता है, जो कि वस्तुतः आधा अंश होना चाहिए।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सूर्य्य की चौड़ाई के कारण मध्याह्न के पहिले का माप लगभग १ मिनट अधिक और मध्याह्न के बाद का माप लगभग १ मिनट कम होता है। पढ़े हुए माप में यह संशोधन करने के बाद एक और संशोधन करना पड़ता है जिसको काल-समीकरण[१] कहते हैं। यह भिन्न भिन्न ऋतुओं में भिन्न भिन्न होता है। यह मुख्यतः दो बातों पर निर्भर है, (१) पृथ्वी की कक्षा की उत्केंद्रता, जिसके कारण पृथ्वी की गति जाड़े में अधिक तथा गरमी में कम हो जाती है और (२) रवि की परम क्रांति। इन दोनों संशोधनों को सम्राट् यंत्र के पढ़े हुए समय में जोड़-कर हम वह भारतीय प्रामाणिक समय (I. S. T.) मालूम कर सकते हैं जो ग्रीनिच से ५ घंटा ३० मिनट तेज है।

बनारस के लिये काल-संशोधन की निम्नलिखित तालिका है जो आज-कल के लिये उपयुक्त है—

जनवरी १	+ १ मिनट	जुलाई १	+ १ मिनट
जनवरी १५	+ ७ "	जुलाई १५	+ ४ "
फरवरी १	+१२ "	अगस्त १	+ ४ "
फरवरी १५	+१२ "	अगस्त १५	+ २ "
मार्च १	+११ "	सितंबर १	— २ "
मार्च १५	+ ७ "	सितंबर १५	— ७ "
अप्रैल १	+ २ "	अक्तूबर १	—१२ "
अप्रैल १५	— २ "	अक्तूबर १५	—१६ "
मई १	— ५ "	नवंबर १	—१८ "
मई १५	— ६ "	नवंबर १५	—१७ "
जून १	— ५ "	दिसंबर १	—१३ "
जून १५	— २ "	दिसंबर १५	— ७ "

१—नियमानुसार कालसमीकरण की परिभाषा इस प्रकार है—कालसमीकरण वह संशोधन है जिसे मध्य समय में जोड़ने से स्पष्ट समय निकलता है।

सम्राट् यंत्र (बनारस)

चित्र २

तालिका के प्रयोग का उदाहरण धूपघड़ी में, जहाँ पर काली परछाहीं पड़ती है, पढ़ लीजिए। पढ़े हुए समय से यदि आपने दोपहर के पहले पढ़ा है तो एक मिनट घटा दीजिए और यदि दोपहर के बाद पढ़ा है तो एक मिनट जोड़ दीजिए तो बनारस का स्पष्ट काल आ जायगा। अब तालिका से संशोधन निकालकर ऊपर के समय में लगाने से भारतीय प्रामाणिक समय निकल आएगा, जो घड़ी से ज्ञात होता है।

पहली अक्तूबर को काली परछाहीं १० बजकर ४० मिनट बताती है। यह समय दोपहर से पहले का है, इसलिये १ मिनट घटाने से १० बजकर ३९ मिनट हुआ। तालिका देखने से उस दिन का संशोधन—१२ मिनट है। ऋण बारह को १० बजकर ३९ मिनट में जोड़ने से १० बजकर २७ मिनट हुआ। यही घड़ी में समय होगा। पहली और १५ के बीच की तिथियों में अनुपात से संशोधन निकाल लेना चाहिए।

सम्राट् यंत्रों का माप इस प्रकार है—

	दीवारों की ऊँचाई		आधार	कर्ण		धनुषों का अर्धव्यास	धनुषों की चौड़ाई	कोण[१]
	उत्तर	दक्षिण		दीवार की लंबाई	दीवार की चौड़ाई			
बड़ा यंत्र	२२'३५"	५'४"	३५'१०"	३९'८·५"	४'६"	९'१·५"	५'·९"	२५°१४'
छोटा यंत्र	८'३"	३'६"	१०'०·५"	११'१·५"	०'११"	३'·२"	१'९"	२५°१६

छोटे सम्राट् में १ मिनट और एक घड़ी का ३६वाँ भाग पढ़ सकते हैं। क्रांति में १० कला तक के चिह्न हैं। बड़े सम्राट् में ६ कला तक के हैं।

सम्राट् यंत्र से सूर्य्य, चंद्रमा और तारों की भी नति-घटी और क्रांति ठीक ठीक माप सकते हैं। सूर्य्य की नति-घटी पढ़ने का समय

१—आज-कल यह कोण मानमंदिर में २५°१८' २५" है।

ठीक ठीक घड़ी में देख लें और जब रात में दूसरी दृश्य-वस्तु दिखाई पड़े तो उसकी नति-घटी पढ़ लें और समय देख लें। सूर्य्य की गति तो ठीक मालूम है, इसलिये उतने समय में जितनी चाल निकले, उतना समय मिलाने से दृश्य वस्तु के विषुवांश का माप मिल जाता है। क्रांति और विषुवांश दोनों मिल जाने से उनकी स्थिति ठीक हो जाती है। और गणना[1] से उनके विक्षेपांश (खगोलीय अक्षांश) और रेखांश आ जाते हैं। पंचांग में तारों के रेखांश और गति दी हुई रहती हैं। विषुवत् का भी माप ले लेने से हिसाब पूरा हो जाता है और पंचांग की सिद्धि मालूम हो जाती है।

यदि ध्यान से देखा जाय और दोनों यंत्रों में समय पढ़ा जाय तो चारों पढ़ाइयाँ एक ही समय में एक नहीं होतीं वरन् चार होती हैं। एक ही सम्राट् के उत्तर-दक्षिण भुजाओं का समय भी एक नहीं पढ़ा जाता। पंडित बापूदेव कहते है कि बड़े सम्राट् की भुजाएँ एक एक इंच लटक गई हैं। परंतु मेरे मतानुसार, शंकु कुछ नीचा बना है और भुजाएँ भी पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण झुकी हैं। मापने पर ज्ञात हुआ कि चारों भुजाओं की त्रिज्याएँ बराबर हैं, उनमे कोई भी बढ़ी हुई नहीं है। कितनी कितनी झुकी हैं, ठीक नहीं बताया जा सकता। घड़ी को अशुद्ध कह देने से किसी यंत्र को छोड़ा नहीं जा सकता। सब घड़ियों या यंत्रों की त्रुटि नापकर संस्कार किया जाता है। व्यवहार का यही नियम सब देशों में है।

दक्षिणोत्तर भित्ति यंत्र —बड़े सम्राट् यंत्र के शंकु की पूर्वी दीवार पर दक्षिणोत्तर भित्ति-यंत्र अथवा दो भित्ति-यंत्र बने हैं। यह दीवार ठीक उत्तर-दक्षिण है। जब सूर्य्य या दृश्य-वस्तु याम्योत्तर पर आती है, इस

१—पुराने समय में ऐसे नक्षत्र-यंत्र धातुओं के बने रहते थे, जिनमें माप के चिह्न भी रहते थे। इससे नति-घटी को लंकोदय में आसानी से, बिना गणना के ही, पढ़ लेते थे। आजकल भी इसी तरह के Slide Rules (विसर्पीगणक) का प्रयोग इंजीनियरिंग विभाग में किया जाता है।

दीवार की सीध में हो जाती है। दोनों तुरीय (पाद) १० फुट ७ इंच की त्रिज्या (अर्द्ध-व्यास) में हैं, और उनके केंद्र पर एक-एक लोहे की खूँटी (६·५"×·७५") क्षैतिज गड़ी है जिसकी परछाहीं तुरीय पर पड़ती है। तुरीयों पर अंश और दशमांश के चिह्न खुदे हुए हैं। एक तुरीय दक्षिण के आधे आकाश को दक्षिणीय खूँटी की परछाहीं से पढ़ता है और दूसरा आधे उत्तरी आकाश को।

दक्षिणोत्तर भित्ति यंत्र
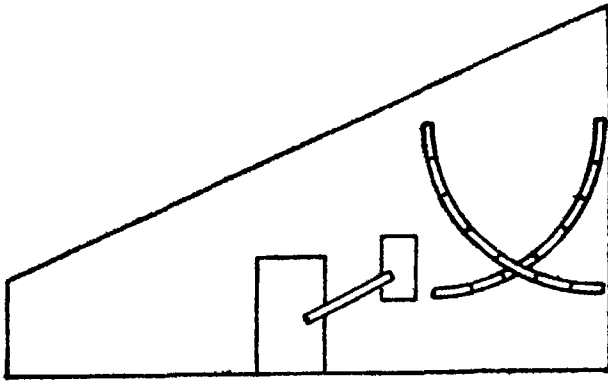
चित्र सं० ५

सूर्य्य की रोशनी में खूँटी दीवार के चिह्नों पर गहरी और हलकी छाया और उपछाया डालती है। जब सूर्य्य याम्योत्तर पर हो, इन परछाहियों का ठीक मध्य पढ़ लेना चाहिए। यदि २ या ३ मिनट पहले पढ़ा जाय तो एक कला की भूल हो सकती है। पढ़ने की सुविधा के लिये मैं एक सफेद कागज को मोड़कर ठीक अंश रेखाओं के नीचे दीवार के लंब रूप में रख लेता था और उस पर रेखाओं का चिह्न बना लेता था और परछाहीं की छाया-उपछाया की जगह पेंसिल से चिह्न कुछ मिनट पहले बना लेता था और फिर यथासमय परछाहीं की जगह का ठीक अनुमान कर लेता था। इस रीति से अंशों के दशमांश का अनुमान हो जाता था। बनारस में तो सूर्य्य कभी उत्तर आता ही नहीं, केवल दक्षिणी खूँटी का प्रयोग होता है। साल भर में सबसे बड़े और

सबसे छोटे मध्याह्न-कालिक उन्नतांशों को, जो इससे पढ़े जाते हैं, घटाकर आधा करने से सूर्य्य की महत्तम क्रांति मिलती है। दोनों के ठीक बीच में वसंत विषुव (सायन मेष संक्रांति) और शरद् विषुव (तुला संक्रांति) होती है। महाराज जयसिंह ने इस यंत्र से सूर्य्य की महत्तम क्रांति २३ अंश २८ कला निकाली थी।

तारा देखने के लिये खूँटी में एक तागा या तार आवश्यकतानुसार बाँध सकते हैं। अथवा एक दूसरी खूँटी पहिली खूँटी की मोटाई के बराबर लेकर, रेखा पर लंब रूप में रखकर, उसके और जड़ी हुई खूँटी दोनों के ऊपर तारा देखकर छड़ के केंद्र का स्थान चिह्नों पर ले। यह यंत्र सन् १७७३ ई० की तसवीर में नहीं है। परंतु सन् १८६५ ई० की पुस्तक में इसका वर्णन है। एक दूसरा पुराना दक्षिणोत्तर भित्ति यंत्र भी मानमंदिर वेधशाला के बाहर दक्षिण ओर ७ फुट ९½ इंच त्रिज्या का बना है। मकान के इस भाग को वहाँ के रक्षकों ने घेरकर पृथक् कर दिया है। यह विशेष आज्ञा से देखा जा सकता है। यह वह यंत्र है जिसको पं० बापूदेव शास्त्री ने अपनी सन् १८६५ ई० की प्रकाशित पुस्तक में पहला स्थान दिया है।

इस दीवार की पूर्वी छत पर पहले कुछ अंकित यंत्र थे। अब छत पर कोई यंत्र नहीं है। एक चौकोर या गोलाकार १० फुट ३ इंच व्यास का यंत्र था। इसके दोनों पूर्वी किनारों पर दो लोहे की खूँटियाँ थीं जिनके सिरे पर छेद थे। सन् १८६५ ई० में केवल उत्तरी खूँटो थी। ये यंत्र संभवतः और यंत्रों के बनाने के सहायतार्थ बनाए गए थे। एक और चूने का गोलाकार २ फुट ८ इंच व्यास का और एक पत्थर का गोलाकार ३ फुट ५ इंच व्यास का और एक पत्थर की चिकनी चौकोर चौकी २ फुट २ इंच की उन्हीं यंत्रों के पास उसी छत पर थी। सुना जाता है कि समय समय पर मरम्मत के समय वे यंत्र हटा दिए गए हैं।

सन् १७७३ में सर राबर्ट बार्कर ने जो चित्र प्रस्तुत किया था उसमें दिगंश यंत्र के दक्षिण में, जहाँ अब एक बड़ा कमरा है, पहले कोई कमरा न था। इस कमरे की छत दिगंश-यंत्र से ऊँची है जिससे यंत्र के दक्षिण ओर आकाश नहीं दिखाई पड़ता।

चक्र छोटा सम्राट् नाड़ी वलय

मानमंदिर (बनारस) के विभिन्न यंत्र

चित्र ३

सन् १८६५ ई० में एक दूसरे नाड़ी-वलय यंत्र के रहने का वर्णन है जो ६ फुट ३ इंच व्यास का था। यह दिगंश यंत्र के दक्षिण में था जहाँ पर अब एक बड़ा कमरा बन गया है। पं० बापूदेव शास्त्री ने अपनी पुस्तक में छोटे सम्राट्-यंत्र के शंकु की चौड़ाई १५ इंच लिखी है परंतु इस समय नापने से ११ इंच होती है। दो स्थानों पर और यंत्र बने हुए थे जो अब पत्थर टूट जाने से मिटे हुए मालूम पड़ते हैं। छत पर दिगंश यंत्र के उत्तर-पश्चिम कोने पर एक, और दूसरा फाटक के झंडे के नीचे चौतरे पर है। यंत्रों के समीप चारों ओर जो नालियाँ बनी हैं उनमें पानी भरकर सतह (तल) को बराबर कर लिया था।

ऐतिहासिक वर्णन—सर राबर्ट बार्कर कुछ समय तक बंगाल में प्रधान सेनापति थे। उन्होंने सन १७७६ ई० में इस वेधशाला का चित्र और वर्णन रायल सोसाइटी लंडन को दिया था। उसमें लेफ्टिनेंट कर्नल कैंबेल ने, जो ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रधान इंजीनियर थे, इसके कई विस्तृत चित्र भेजे थे। वे चित्र सन् १७७२-७३ के हैं। सर बार्कर १७७३ में भारतवर्ष से चले गए थे। महाराज माधवसिंहजी ने सन् १९११ ई० में इन यंत्रों की मरम्मत पं० गोकुलचंद्रजी राज-ज्योतिषी से कराई थी।

इस वेधशाला के बनने के समय के संबंध में मतभेद हैं। प्रिंसेप ने इसका १६८० मे बनना बताया है। इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में १६९३ ई० लिखा है। प्रिंसेप ने लिखा है कि टैवनियर ने इसका वर्णन किया है। परंतु टैवर्नियर का देहांत सन् १६८९ ई० में ही हुआ था जब कि जय-सिंह केवल ३ वर्ष के थे। यह भी सुना जाता है कि टैवर्नियर जब बनारस में वेणीमाधव के मंदिर (धरहरा) को देखने आए थे तो महाराज जयसिंह के वंश के दो लड़के उनसे मिले थे। उन्होंने लिखा है कि ये लड़के मिर्जा राजा जयसिंह के पौत्र (?) थे। क्या सवाई जयसिंह ने अपनी बाल्यावस्था में बनारस में पंडितों से शिक्षा प्राप्त की थी? फ्रांसीसी पादरी बोडियर सन् १७३४ ई० मे बनारस आए थे और उन्होंने वेध का काम किया था। किंतु उन्होंने मानमंदिर का उल्लेख नहीं किया है। इसलिये के साहब का अनुमान है कि यह वेधशाला सन् १७३७ ई० में बनी होगी। इस

वेधशाला में लगे हुए शिलालेख से ज्ञात होता है कि इसका निर्माणकाल १७१० ई० है।

यह स्पष्ट है कि वेधशाला के निर्माण काल की यथार्थ शुद्धता के बारे में निरर्थक विवाद होता है। गत शताब्दियों मे राजा लोग किसी विशेष मुहूर्त पर यज्ञ अथवा पूजा करने के लिये आकाशीय ग्रह, सूर्य्य, चंद्रमा तथा नक्षत्रों की स्थिति पर निर्भर रहते थे। इस कारण वे आकाश का वेध किया करते थे जिससे पहिले से ही ऐसे मुहूर्त्त को जान सकें। मुसलमान बादशाह तथा मुगल सम्राट् भी आकाशीय पिंडों का वेध किया करते थे। किंवदंती है कि मुगल सम्राट् हुमायूँ छत पर तारों का वेध कर रहा था, अजान सुनकर वह शीघ्र ही उतरने का प्रयत्न करते हुए सीढ़ी से गिर जाने के कारण मर गया। अकबर और औरंगजेब भी आकाशीय पिंडों के देखने में दिलचस्पी लेते थे। इस कारण यह आश्चर्य की बात नहीं कि वेध करने के लिये उपयुक्त स्थान चुने गए हों और छोटी छोटी वेधशालाएँ केवल राज-गृहों के निकट ही नहीं अपितु तीर्थ तथा पूजा के स्थानों के निकट भी स्थापित रही हों। दशाश्वमेध और मणिकर्णिका के बीच मान-मंदिर है। उज्जैन और मथुरा भी तीर्थस्थान हैं। उनके रूप मे सुधार तथा वृद्धि समय समय पर की गई होगी और यह कार्य्य संभवतः कई वर्षों तक चलता रहा होगा। इस कारण यदि हम किसी खास यंत्र की बनावट से वेध-शाला के बनने की तिथि निश्चित करना चाहते हैं तो भ्रम में पड़ जाते हैं और हमे हर पहलू को मिलाकर एक विशेष तिथि निश्चित करना कठिन हो जाता है। यज्ञस्थानों के निकट वेधशालाओं के रहने से यह भी अनुमान होता है कि प्राचीन समय में भी पचांगों की अपेक्षा वेध-क्रिया प्रामाणिक मानी जाती थी।

ज्योतिष का संक्षिप्त विवरण

हमारे सिर के ऊपर छतरी के आकार का आकाश मालूम होता है। द्रष्टव्य पिंड की स्थिति कई प्रकार से नापी जा सकती है, जिसमे मुख्य तीन हैं। दूरी नापने का प्रश्न साधारणतः नहीं उठता है। माप

केवल कोण में किए जाते हैं। (१) पहले प्रकार में ऊर्ध्वाधर रेखा और क्षितिज के धरातल से नापते हैं। दिगंश वह कोण है जो कि क्षितिज पर नापा जाता है कि दृश्य-वस्तु किस दिशा में है। उन्नतांश वह कोण है जो बतलाता है कि वस्तु निश्चित समय पर क्षितिज से कितनी ऊँची है। बनारस वेधशाला में इस उन्नतांश के नापने के लिये कोई यंत्र नहीं है। जयपुर और दिल्ली में जय-प्रकाश और राम-यंत्र अब भी हैं। (२) दूसरे प्रकार में पृथ्वी की धुरी (अक्ष) और विषुवत् के धरातल से नापते हैं। वह कोण, जो किसी निश्चित स्थान से पृथ्वी की धुरी के चारों ओर का घुमाव बताए, विषुवांश कहलाता है। निश्चित स्थान मेष-संक्रांति मानते हैं, नत-घटी और लंकोदय इसी पर निर्भर है। और दूसरा कोण, जिसे क्रांति कहते हैं, यह बतलाता है कि विषुवत्-धरातल से दृश्य-वस्तु कितनी उत्तर-दक्षिण है। (३) तीसरे प्रकार में क्रांति-वृत्त का धरातल अर्थात् सूर्य की चाल का मार्ग और इसके लंबवत् कदंब-प्रोत जो रेखा होगी उन दोनों से नापते हैं। आकाश में उत्तर-दक्षिण फैलाने से यह रेखा जहाँ पहुँचती है उसे 'कदंब' कहते हैं। वह कोण, जो क्रांति-वृत्त पर चारों तरफ नापते हैं, भुजांश कहलाता है और वह कोण जो इस समतल से उत्तर-दक्षिण होता है, खगोलीय-अक्षांश (शर) है। हिंदुओं का माप तीसरे प्रकार का है और विदेशियों का दूसरे प्रकार का। पहले प्रकार का प्रयोग बहुत कम होता है।

यदि हम इन तीनों प्रकार के कोणों में किसी एक प्रकार के दो कोण मालूम कर लें तो गणना से दूसरे प्रकार के दोनों कोण निकाल सकते हैं।

ग्रीनविच-नाटिकल-एलमेनक (नाविक पंचांग) साधारणतः दूसरे प्रकारवाला माप देता है। कोई कोई विदेशी पंचांग तीसरे प्रकार का भी माप देते हैं। वर्तमान काल में पाँच प्रसिद्ध स्थान हैं जो पंचांग और वेध का माप प्रकाशित करते हैं—(१) ग्रीनविच, (२) वाशिंगटन, (३) बर्लिन, (४) पेरिस और (५) सैनफर्निनडो (दक्षिणी अमेरिका)। इस युद्ध के समय में भी उक्त स्थानों के वेध एक दूसरे से मिलाकर प्रकाशित होते हैं।

खगोल को १२ टुकड़ों में ६ बड़े बृहत-वृत्तों से बाँटा गया है, जैसे एक गोल खरबूजे मे १२ फाँकों के चिह्न हों जो दोनों शीर्षों में, जिन्हें कदंब कहा गया है, मिलते हैं। प्रत्येक फाँक एक राशि कहलाती है। मेष-सक्रांति से प्रथम फाँक आरंभ होती है। ग्रह जिस फाँक में हो उसी अंक में कुंडली के घरों मे ग्रह को डालते हैं। प्रत्येक राशि में ३० अंश हैं। एक अंश में ६० कलाएँ और एक कला में ६० विकलाएँ होती हैं।

यह देखा जाता है कि सूर्य्य एक सायन वर्ष में फिर उसी नाक्षत्र स्थान पर नहीं लौटता। लगभग एक कला बारह राशियों में बाकी रहती है तभी विषुववृत्त पर पहुँचकर क्रांति-रहित हो जाता है। इसी विलक्षण गति के कारण वास्तविक संक्रांति हर साल कुछ आगे पड जाती है। लगभग ७० वर्ष मे एक दिन का अंतर होता है। नाक्षत्र वर्ष की गणना को 'निरयण' कहते हैं, दूसरे प्रकार की गणना 'सायन' है। इस सायन-गणना में प्रत्येक वर्ष मेष नए स्थान से आरंभ होता है। इस कारण मेष दो, एक सायन दूसरा निरयण हुआ। निरयण मेष मे सूर्य्य आजकल १३ अप्रेल को पड़ता है और सायन मेष मे जब दिन-रात बराबर हों, २१ मार्च को। चैत्र कृष्ण ३० संवत् १९९९ वि० को स्थूल रीति से २२°।५७ 'अयनांश' हो गया। लगभग १४०० वर्ष पहले (१८ मार्च ५३२ ई०) सायन और निरयण ग्रहों की स्थिति बराबर थी, अयनांश शून्य था। सूर्यसिद्धांत के मत से अयनांश २७° तक बढ़ेगा, फिर क्रमशः घटेगा और इसी प्रकार दूसरी ओर २७° तक जायगा और घटेगा। पश्चिम के ज्योतिषियों के मतानुसार यह घटता नहीं, एक ही ओर बढ़ता जाता है और लगभग २६००० वर्ष में एक पूरी परिक्रमा कर लेता है। यही बात गणित से भी सिद्ध होती है।

शास्त्रों में नक्षत्रों की परिक्रमा लिखने की विधि भी विदेशी लेखकों से भिन्न है। इसमें परिक्रमा-काल (भगण-काल) नहीं लिखते थे, वरन् एक बड़ा समय (युग) ग्रहों के परिक्रमा-काल का लघुतम की भाँति बनाकर लिखते थे। इस रीति से, इस युगारंभ में सब ग्रह एक स्थान पर थे और उन्होंने भिन्न भिन्न गति से चलना आरंभ किया। कलियुग का आरंभ अब से ५०४३ वर्ष पहले कल्पना किया जाता है। ६०×६०×६०×२० =

=४३२०००० वर्ष एक महायुग है। इस संख्या[१] से पश्चिमीय लोगों को बैबलोनिया के प्रभाव का अनुमान होता है। अबरखस (Hipparchus= हिपारकस), पराशर, आर्यभट्ट तथा पश्चिमीय ज्योतिषियों के अयन चलन से—, जो क्रमशः ४९·"८, ४६"· ५, ४६·" २, ५०·" १ हैं—३६०° को भाग देने से [illegible], [illegible], [illegible] [illegible] आता है, जिससे भी ४३२०००० का भान होता है।

पृथ्वी के दैनिक परिभ्रमण के कारण आकाश की सब वस्तुएँ एक दिन में पूर्व से पश्चिम की ओर घूम जाती हैं। और वार्षिक भ्रमण (परिक्रमा) के कारण वे सब एक वर्ष में पश्चिम से पूर्व धीरे धीरे चलती हैं। कभी ग्रह थोड़े दिन उलटे अर्थात् पूर्व से पश्चिम चलते दिखाई पड़ते हैं, तब उनकी गति 'वक्र' कहलाती है।

सूर्य्य और चंद्र की स्थिति को वेधशालाओं के यंत्रों से ठीक ठीक नाप सकते हैं। उनकी राशि, अंश, कला और विकला लिखकर जोड़, घटा सकते हैं। जोड़ने से योग और घटाने से तिथि ठीक ठीक बना सकते हैं। जब चंद्र के केंद्र और सूर्य्य के केंद्र एक राशि, भोगांश या भुजांश में हों, तब अमावस समाप्त होती है, प्रतिपदा आरंभ होती है और जब तक १२° का अंतर न हो जाय, प्रतिपदा रहती है। इसी प्रकार

१—अफलातून की विवाह संख्या प्रसिद्ध है। किसी शिष्य ने अफलातून से प्रश्न किया कि संसार में बुद्धि का उत्तरोत्तर विकास होते रहने से मनुष्य की अवनति क्योंकर होगी। इस पर उत्तर मिला कि कुछ काल व्यतीत होने पर ग्रहों के स्थान में ऐसा हेर-फेर हो जायगा कि ऋतुएँ बदल-बदल जायँगी, उपज बदल जायगी और विवाह ठीक मुहूर्त पर नहीं होंगे। अतः इनसे उत्पन्न हुई सन्तानें माता-पिता को नहीं मानेंगी, उन पर अविश्वास करने लगेंगी और मार-पीट करने पर तक उतारू हो जायँगी। इस प्रकार मनुष्य की बुद्धि अवनत हो जायगी।

प्रत्येक तिथि १२-१२ अंश भोगती है और समाप्त हो जाती है। आधी तिथि जितने समय में बीतती है वह 'करण' कहलाता है।

जैसे घटाने से तिथि निकलती है वैसे ही जोड़ने से योग बन सकता है। अश्विनी नक्षत्र के आदिबिंदु से सूर्य्य और चंद्र केंद्र जितने दूर हों उस दूरी को अंशों में निकालकर जोड़ लें और १३⅓ से भाग दें तो मालूम हो जायगा कि कितने योग बीत चुके और वर्तमान योग कितना व्यतीत हुआ है।

निज अवलोकन—मैं कभी कभी ४ इंची दूरबीन से आकाश को देखा करता था। सन् १९१७ ई० में लगभग ३ मास तक सूर्य्य-लाञ्छन (धब्बा) को प्रातः, मध्याह्न और तीसरे पहर देखकर चित्र खींच लेता था। गत जनवरी मास में शुक्र को पश्चिम आकाश पर देखने लगा। वह प्रतिदिन वृद्ध होकर छिन्न होता गया, यहाँ तक कि नव-चंद्राकार होकर अदृश्य हो गया। पंचांगों में शुक्रास्त कई दिन पहले लिखा था। इसलिये स्थूल माप लेने लगा। गत ३० जनवरी की संध्या को शुक्र का आकार चमकीले रेखावृत्त का ¼ दिखाई पड़ा था। फिर ३१ जनवरी को न देख सका। ३ फरवरी को प्रातःकाल सूर्य्य के ऊपर पश्चिम-उत्तर ५° पर बाल-शुक्र नवीन चंद्रमा के समान दिखाई पड़ा और इसके बाद प्रतिदिन धीरे-धीरे बढ़ता तथा ऊँचा होता गया। मापों को सौर-पंचांग से मिलाने पर मालूम हुआ कि जब पंचांग में सूर्य और शुक्र का अंतर ३५° अंश लिखा था तो आकाश में १८° अंश ही था।

दिन में तारा देखने पर कुछ लोगों ने आश्चर्य किया था। वह तारा शुक्र ग्रह ही था। जब ग्रह पृथ्वी के निकट आ जाता है और सूर्य्य से प्रकाशित या उज्ज्वलित अधिकतम दिखाई पड़ता है तब उसमें अधिकतम कांति होती है। शुक्र की सबसे अधिक चमक ९ मार्च को थी। इसलिये १०-१५ दिन तक दिन में दिखाई पड़ा था।

उदाहरण—३ तिथियों के निम्नलिखित भोगांश दिए गए हैं। पहले वेध की क्रिया की गई थी। पुनः पत्रा-पंचांगों से उनका मान निकालकर लिखा गया है।

१ली फरवरी १९४२ (१५ माघ शुक्ल अर्द्ध-रात्रि)

	सू०	बु०	शु०	श०
विश्व-पंचांग[1]	९।१९।१६	९।२९।५४	८।२८।५३	०।२२।४८
शास्त्री ,,[2]	९।१९।१७	१०।४।१	९।२०।४४	०।२८।४१
उज्जैन ,,[3]	९।१९।१९	१०।३।५८	९।२०।५९	०।२८।४५

ग्रहों के स्पष्टीकरण के संबंध में—विशेषतः बुध, शुक्र और शनि के स्पष्टीकरण में संस्कृत सारिणी से बने हुए पंचाग (जैसे विश्व-पचांग) आदि में अधिक अंतर पड़ता है। वेधोपलब्ध बुध की राशि आदि १०।४।१ है। परंतु विश्व-पंचांग में बुध की राशि आदि ९।२९।५४ लिखी गई है जिस कारण बुध दूसरी राशि में पड़ता है और उसी दिन शुक्र के स्थान में भी २२° अंश का अंतर है। इसलिये पचांग से बने हुए ग्रहों पर से फलादि के कथन के लिये विशेष गड़बड़ी होगी। शनि का जो मान विश्व पंचांग में दिया हुआ है उसमें ६ अंश का अंतर है जो कि ६ महीने की शनि की चाल के बराबर होता है। विश्व-पंचांग अदृष्ट ग्रहों के गणनानुसार केवल फल के लिये भले ही बना हो किंतु एक राशि का अंतर बहुत हो जाता है।

२४ फरवरी १९४२ ई०

	बु०	शु०
विश्व-पंचांग	९।१६।५४	९।२।०
शास्त्री ”	९।१८।२५	९।१२।२८
उज्जैन ”	९।१९।४	९।१२।३०

१—विश्व-पंचाग = श्री काशी-ज्ञानमंडल का सौर पंचांग (सूर्यसिद्धांतानुसार)।

२—शास्त्री पंचांग = पत्रा श्री बापूदेवजी शास्त्री का।

३—उज्जैन पंचांग = प्रकाशक-श्री जीवाजी वेधशाला, उज्जैन (ग्वालियर राज्य)।

इस दिन सायंकाल वेध से बुध और शुक्र का अंतर लगभग ७° प्राप्त हुआ, किंतु विश्व-पंचांग में यह अंतर १५° के लगभग है।

८ मार्च १९४२ ई०

	शनि	मं०	गु०
विश्व-पंचांग	०।२४।४६	१।६।४४	१।२३।२५
उज्जैन ”	०।२९।२५	१।७।३३	१।१९।५०

	विश्व-पंचांग	उज्जैन पंचांग	शास्त्री पंचांग	वेध माप
शनि, मं०	१२°	८°	८°	७°
मं०, गु०	१६°	१२°	१२°	१२°

ऊपर की सारिणी से स्पष्ट है कि शनि और मंगल का अंतर विश्व-पंचांग के अनुसार १२° है और उज्जैन के पंचांग के अनुसार ८° है। परंतु वेध से वह अंतर लगभग ७° के बराबर था। इसी प्रकार मंगल और गुरु का अंतर विश्व-पचांग में १६° है। उज्जैन-पंचांग में १२° है और वेधोपलब्ध में भी १२° है। इससे स्पष्ट है कि मंगल लगभग ठीक है, किंतु शनि और गुरु में विशेष अंतर पड़ जाता है।

——

मानमंदिर के अनुसार अक्षांश का माप—१० दिन तक

१३	मार्च	२५°।२०′	१७	मार्च	२५°।२१
१४	"	२५°।१८′	१८	"	२५°।१७′
१६	"	२५°।१८	१९	"	२५°।१५′

संक्रांति के उपरांत दूसरे मापक से—

२१	मार्च	२५°।२०′	३१	मार्च	२५°।२१′
२२	"	२५°।२२′	७	अप्रेल	२५°।२१′
२३	"	२५°।२०′			

उपर्युक्त माप पढ़े हुए उन्नतांश तथा क्रांति के योग से आए हैं। दोनों में निम्नलिखित संस्कार की आवश्यकता होती है, परंतु योग में वे कट जाते हैं:—

(१) मध्याह्नकालिक उन्नतांश और क्रांति, यंत्रों से देखकर, वायु-मंडलीय वर्त्तनजनित अशुद्धि को शोधने के लिये ३०" जोड़ा गया है।

(२) पृथ्वी का आकार निम्नाक्ष उपगोल है, क्योंकि पृथ्वी उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों पर धीरे धीरे कुछ चिपटी होती गई है। इसलिये पृष्ठ स्थान से जो लंब पृथ्वी के बाहर और भीतर बढ़ाया जाता है वह भूकेंद्र से न जाकर कुछ दक्षिण की ओर से जाता है। अतः भूकेंद्र और पृष्ठ-स्थान जोड़नेवाली रेखा तथा लंब के बीच के कोण को, किसी स्थान का अक्षांश जानने के लिये घटाना पड़ता है। बनारस (मानमंदिर) के लिये यह अंतर ८′ ५३" है।

(३) वेधक्रिया भूकेंद्र पर न करने के कारण जो संस्कार किया जाता है उसको लंबन संस्कार कहते हैं। इसलिये ४" घटाया गया है।

(४) पृथ्वी की गति के कारण पढ़े हुए मापों में एक अपरेण संस्कार और किया जाता है। यह बहुत सूक्ष्म है।

मानमंदिर के बड़े तथा छोटे सम्राट् यंत्रों के मध्याह्न अर्थात् कुछ मिनट पहले और कुछ मिनट पीछे के लिए हुए सूर्यक्रांति के मापों का मध्यमान तथा उज्जैन पंचांग का मान :—

मार्च १९४२	बड़ा यंत्र	छोटा यंत्र	उज्जैन
	अंश कला	अंश कला	अंश कला
८	५ १० द०	५ १६ द०	५ ७ द०
११	४ ० "	४ ५ "	३ ५७ "
१२	३ ३७ "	३ ४० "	३ ३३ "
१३	३ १० "	३ १५ "	३ १० "
१४	२ ४६ "	२ ५० "	२ ४६ "
१५	२ २३ "	२ २८ "	२ २३ "
१६	२ ० "	२ ५ "	२ ० "
१७	१ ३४ "	१ ३८ "	१ ३६ "
१८	१ १४ "	१ १३ "	१ १३ "
१९	० ५४ "	० ५१ "	० ४९ "
२०	० २७ "	...	० २६ "
२१	० १ "	० १० उ०	० ३ उ०
२२	० २३ उ०	० १४ "	० २० "
२३	० ४५ "	० ३८ "	० ४३ "
३०	३ २८ "	...	३ ३० "
३१	३ ५४ "	३ ४७ "	३ ५४ "
७ अप्रेल	६ ३३ "	६ २७ "	६ ३५ "

मानमंदिर वेधशाला के माप—

अक्षांश २५°१८′ २४·९″ उत्तर
देशांतर ८३° ०′ ४६·९″ पूर्व ग्रीनविच } ट्रिगोनोमेट्रिक सर्वे आफ इंडिया १९१५ के अनुसार
समुद्र-तल से ऊँचाई अनुमानतः ३०० फुट।

घाट की एक बुर्जी पर बाढ़ के पानी का तल नापने के चिह्न फुटों में लगे हैं। उसके १४ फुटवाले चिह्न का मध्य २०९·५३७ फुट मध्यमान समुद्र तल से ऊँचा है।

पार्थिव चुम्बकत्व दिक्पात	०°४०' पश्चिम	(१९४२)	प्रतिवर्ष २' बढ़ता है
,, ,, अवपात	३७°२५' उत्तर	,,	,, ,, ,, ,,
,, ,, क्षैतिजबल	·३६६१३	,,	,, ·०००२ ,, ,,
गुरुत्वांक	९७८·९२२	,,	

स्थानीय समय २ मि० ३·१ से० भारतीय (पुराने) प्रामाणिक समय (स्टैंडर्ड टाइम) से पहले (तेज) है।

दिल्ली-वेधशाला

दिल्ली-वेधशाला के संबंध में कुछ बताने से काशी के यंत्रों की उपयोगिता भली भाँति मालूम हो जायगी। वहाँ के 'जंतर-मंतर' में बड़े-बड़े यंत्र चूने के पलस्तर में बने हुए हैं। पलस्तर बिगड़ जाने से चिह्न बहुत कम स्थानों पर पढ़ने योग्य रह गए हैं। इसलिये जो काम मानमंदिर के छोटे पत्थरों के यंत्र पर हो सकता है वह उन बड़े यंत्रों से नहीं हो सकता। वहाँ के मुख्य यंत्र ये हैं :—(१) सम्राट्-यंत्र, (२) जयप्रकाश-यंत्र, (३) राम-यंत्र और (४) मिश्र-यंत्र।

१—सम्राट्-यंत्र पूर्व से पश्चिम १२५ फुट, उत्तर से दक्षिण १२० फुट, पृथ्वी से ऊपर ६० फुट और पृथ्वी में १५ फुट गहराई में है। शंकु १२८½ फुट लंबा है। सम्राट्-यंत्र के पूर्वी खंड मे एक षष्ठांश-यंत्र (वृत्त का छठा भाग) है। मध्याह्न-कालिक सूर्य्य की किरण एक ताम्र-पत्र के छोटे छेद में से अंकों पर पढ़ी जाती थी, परंतु अब यह बंद है।

२—जयप्रकाश-यंत्र में दो नतोदरीय अर्द्ध-गोल २७½ फुट व्यास के हैं। एक ही अर्द्ध-गोल यथेष्ट होता, किंतु अर्द्ध-गोलों में के चिह्न पढ़ने के लिये बीच बीच में कई गलियाँ बनाई गई हैं। दोनों मिलकर पूरे अर्द्ध-गोल का काम करती हैं। अर्द्ध-गोलों के बीच मे एक-एक २ इंच मोटे लोहे के खंभे परछाहीं डालने के लिये गड़े हैं। खंभों के बदले पहले दो तार पूरब-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण ऊपर बँधे थे और उनके केंद्र की परछाहीं चिह्नों पर पढ़ी जाती थी। अर्द्ध-गोल में बहुत से पतले चिह्न बने हैं

जिनमें उन्नतांश, दिगंश, रेखांश, अक्षांश, क्रांति और राशियों के चिह्न बने हुए हैं।

३—राम-यंत्र में दो गोलाकार दीवारें २४½ फुट ऊँची बनी हैं। प्रत्येक दीवार अविरत गोल नहीं है परंतु ३०-३० खंडों की है और दोनों गोलाकार एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों दीवारों के केंद्र अथवा बीच में एक एक २४½ फुट ऊँचा ५½ फुट मोटा खंभा बना है। दीवारों और खंभों के बीच के फर्श पर ३०°-३०° त्रिज्याखंड ३ फुट ऊँचे चौतरे की तरह बने हैं। ये भी २४½ फुट लंबी हैं। चौतरों के नीचे आँख लगाकर खंभे के बगल से दृश्य-वस्तु देख सकते हैं। इससे तथा परछाहीं से भी उन्नतांश और दिगंश, जिनकी रेखाएँ नीचे के चौतरों और दीवारों के किनारों पर बनी हैं, पढ़ सकते हैं। दीवारों की रेखाएँ तो अधिकतर पढ़ने योग्य हैं, परंतु चौतरों की रेखाएँ बिगड़ गई हैं। दीवारों में दोनों तरफ छोटे-छोटे मुक्के छड़ को क्षैतिज रखने के लिये बने हैं और खभे पर ६-६ अंश चौड़ी ऊर्ध्वाधर धारियाँ बनी हैं।

४—मिश्र-यंत्र मिश्रित है। इसमें कई यंत्रों का संग्रह है। संभवतः यह बाद मे बना है। इसके बीच मे नियत-चक्र स्थापित है। शंकु की चार दीवारें हैं, ये शंकु सम्राट् यंत्र क शंकु से छाटे हैं। बीच के दो शंकुओं के बाहरी किनारों पर बीच में छेददार एक-एक छोटा पत्थर जमाया हुआ है। छेद में एक छोटा-पतला डंडा खड़ा कर देते हैं जिससे उसकी परछाहीं दोनों बाहरी अर्द्धवृत्तों पर पड़ती है। इस यंत्र में चार अर्द्ध वृत्त है, दो पूर्व और दो पश्चिम। इनके तल दिल्ली-याम्योत्तर से ७७° १६′ पश्चिम, ६८° ३४′ पश्चिम, ६८° १′ पूर्व और ७५° ५४′ पूर्व बने हैं जो कि संभवतः विदेशी चार प्रसिद्ध वेधशालाओं के देशांतरों से मिलते हैं। (१) ग्रीनविच वेधशाला सन् १७७५ ई० की है। इसका देशांतर ७७° १३′ ५″ है। (२) जियूरिच वेधशाला सन् १७५९ ई० में स्विटजरलैंड मे बनी जो दिल्ली से ६८° ३९′५″ पश्चिम है। (३) जापान के नाटके गाँव की वेधशाला का अक्षांश ४३°३३′ है। यह दिल्ली से ६८°३′ पूर्व है। (४) सेरिच्यू वेधशाला प्रशांत-महासागर के पिक्-द्वीप में रूस से पूर्व है। इसका
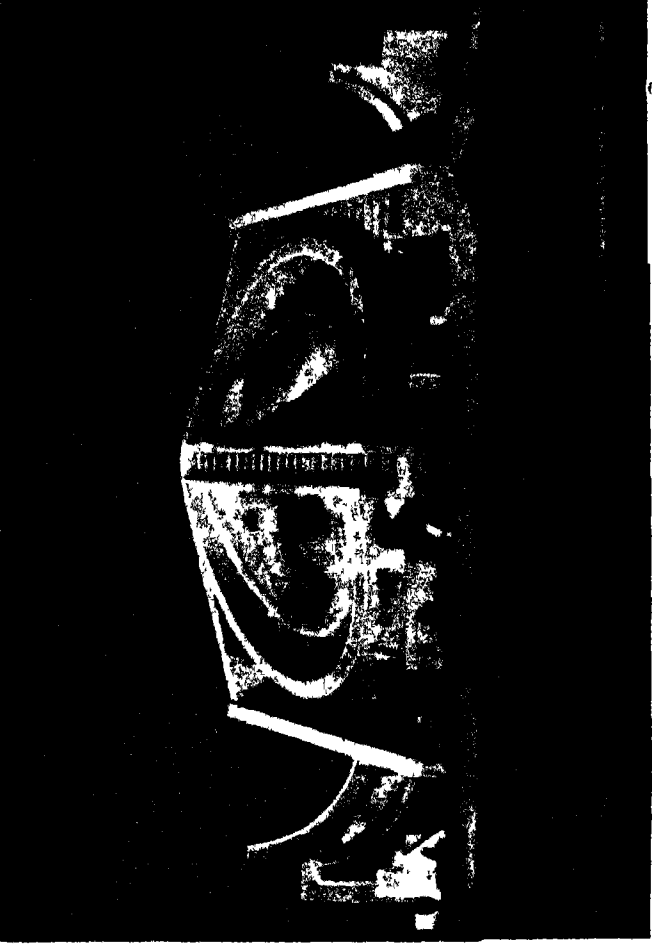
मिश्र यंत्र (दिल्ली)

चित्र ४

अक्षांश ४८ ६' और दिल्ली से ७५°५८' पूर्व है। जब डंडे की छाया सबसे पश्चिमी त्रिज्याखंड पर पड़ती है, तब सेरिच्यू नगर में ठीक दोपहर होता है। और त्रिज्या के अंकित स्केल पढ़ने से सूर्य्य की क्रांति ६ बजकर ५४ मिनट प्रातः दिल्ली स्थानीय काल मालूम होता है। दिल्ली का स्थानीय समय, भारतीय प्रामाणिक समय (भा० प्रा० स०—I. S. T.) से २१ मिनट पीछे है। प्रातः ७ बजकर २८ मिनट स्थानीय काल में दूसरी त्रिज्या पर नाटके का मध्याह्न पढ़ा जाता है। स्थानीय सायंकाल ४ बजकर ३५ मिनट पर जियूरिच का और ५ बजकर ९ मिनट पर ग्रीनविच मध्याह्न-काल पढ़ सकते हैं।

नियत-यंत्र के दोनों तरफ दो बेलनाकार तुरीय स्थानीय समय पढ़ने के लिये ठीक सम्राट् यंत्र के समान बने हैं। पश्चिम की ओर उत्तर में एक तीसरा तुरीय भी है जिसका तल ढलवाँ नहीं प्रत्युत क्षैतिज समतल है। इसके दोनों किनारों पर सूर्य की छाया का भिन्न भिन्न मान आता है जिससे अग्रांश का ज्ञान होता है।

इस इमारत की पूर्वी दीवार पर दक्षिणोत्तर-भित्तियंत्र है जिसका अर्द्ध-वृत्त आकाश की ओर ऊँचा याम्योत्तर बनाता है। इसके केंद्र के पत्थर में एक छेद है, जहाँ पहले लोहे की खूँटी मध्याह्न-कालिक उन्नतांश पढ़ने के लिये लगी रही होगी।

उत्तर की दीवार ऊर्ध्वाधर से लगभग ५° पीछे की ओर झुकी है और एक वृत्तखंड पर चिह्न साफ साफ अंकित हैं। दिल्ली के सब यंत्रों की अपेक्षा यही चिह्न स्पष्ट हैं, मिटे नहीं हैं। जब सूर्य्य कर्क-राशि पर जून के महीने में सबसे अधिक उत्तर आता है तब इन चिह्नों पर केंद्र की खूँटी की परछाहीं को पढ़ सकते हैं। इसलिये इस यंत्र को कर्क-राशि-वलय कहते हैं।

वेध का महत्त्व

प्राचीन समय में हमारे पूर्वज ग्रहों को प्रायः प्रत्यक्ष देखकर उनके अनुसार ही मुहूर्त को शुद्ध मानते और अपने धर्मकार्य आदि करते थे।

किंतु समय के फेर से आज हमारा ध्यान उस ओर से हट गया है। हमारी वेधशालाएँ भी बेमरम्मत और अपूर्ण पड़ी हैं। समझदार जनता का यह कर्तव्य है कि अपनी वेधशालाओं का सुधार कराए और ग्रहों को प्रत्यक्ष देखकर, पंचांगों को ठीक करके उपयुक्त समय पर अपने धर्मकार्यों के करने की व्यवस्था करे। ग्रहण का समय आदि जानने के लिये जब वेध की अनिवार्य आवश्यकता है तब फिर ग्रहों की गतिविधि जानने और तदनुकूल पंचांग बनाने की आवश्यकता क्यों न हो? यह मत कि तिथि और योग की गणना केवल प्राचीन स्थूल गणित से करना पर्याप्त है, ठीक नहीं है वेध द्वारा ही उनका निर्णय किया जा सकता है और करना चाहिए।

——

विषय-सूची

——

भूपालवल्लभ

चौदहवीं शताब्दि का एक महत्वपूर्ण समूह-ग्रंथ

[लेखक—श्री नारायण शास्त्री आठले]

ज्यौतिष शास्त्र प्राय: तीन भागों में विभक्त किया गया है। गणित, संहिता और होरा। फिर भी इसकी अनेक शाखाएँ निर्मित हुई हैं। वस्तुत: ये सब शाखाएँ प्रश्न-शास्त्र से संबंध रखनेवाली हैं, क्योंकि मानवी जीवन में इसका ही अत्यधिक उपयोग होना पाया जाता है। ये शाखाएँ हैं प्रश्न, रमल, पक्षी, शकुन, स्वप्न, स्वर, संख्या, मुहूर्त, दगार्गल इत्यादि। इन सबसे भिन्न है सामुद्रिक। आजकल की मासिक तथा साप्ताहिक पत्रिकाओं में प्राय: राशि तथा लग्न पर से प्रत्येक मनुष्य के भविष्य का विचार किया हुआ हम देखते हैं और इसका संबंध केवल होरा से ही होता है। इससे ज्यौतिष के इस महान् वृक्ष के विस्तार की कल्पना सहज हो सकती है। वेदकाल से आजतक इस शास्त्र पर भारतीयों ने तथा विदेशियों ने जो अखंड परिश्रम किए हैं उनके फल ग्रंथ रूप में हमारे सामने उपस्थित हैं। फिर भी कितने ही ग्रंथ प्रकाशित हुए बिना ही रह गए हैं। उपयुक्त होते हुए भी समाज जिनसे लाभ नहीं उठाता ऐसे कितने ही ग्रंथ अब भी उपस्थित हैं। ऐसे ही एक ग्रंथ का हम यहाँ परिचय कराना चाहते हैं।

इस ग्रंथ का नाम है 'भूपालवल्लभ सारोद्धार'। इसके रचयिता परशुराम ने इसे चौदहवीं शताब्दि के मध्योत्तरार्ध काल में बनाया। इस ग्रंथ की सिंदिया ओरिएंटल इंस्टीट्यूट उज्जयिनी के संग्रहालय में दो प्रतियाँ हैं, जिनमें एक तो पुरानी लिखी हुई है और दूसरी उसी की प्रतिलिपि है। हस्तलिखित प्रति के पत्र १२८ से १३० तक नष्ट हो गए हैं। दूसरी प्रतिलिपि संपूर्ण है। इसका कारण यह है कि सन् १९३३ के जनवरी मास

में पुरानी प्रति संग्रहालय में मँगवा कर प्रतिलिपि कराई गई और नकल यहाँ रखकर असल ग्रंथ को वापस कर दिया गया था। परंतु फिर जब असल ग्रंथ मोल लिया गया तब पता चला कि उपरिनिर्दिष्ट पत्र नष्ट हो चुके हैं। यह ग्रंथ इस संस्था (सिंदिया ओरिएंटल इंस्टीट्यूट उज्जयिनी) में जावद ग्राम (मंदसोर जिला, ग्वालियर) के पं० दामोदर शास्त्रीजी से मोल लिया गया। इसके अंतिम पत्र मे लिपिकार ने अपना नाम, ग्राम तथा समय इस प्रकार दिया है—

'विक्रमार्कोद्गते काले भूवसुमुनिभूमिते ॥
मार्गशीर्षसिते पक्षे नवम्यां गीष्पतौ दिने ॥ ७ ॥
(स्थाने पिप्पलिकाभिधे नृपवरो श्रीव्याघ्रजिद्‌र्चिते
विद्यादानविवेकधीगुणनिधिः सन्मानपाथानि)धिः ॥
तस्यायं नृपवल्लभेति प्रथितो ग्रंथो शुभो लिख्यते
लक्षीरामद्विजेन सन्मतिजुषा भूदेवधीपुष्टये ॥ २ ॥
श्रीशिवाय नमः ॥

ॐ नमः सच्चिदानंदस्वरूपिणे परमशिवाय ॥

उपर्युक्त ( ) कोष्ठक के अंश को, उसके किसी के द्वारा घनी काली स्याही से रँगे होने से, साधनों द्वारा महत्परिश्रम के साथ पढ़कर यहाँ उद्धृत किया है। इससे लक्षीराम नामक ब्राह्मण ने यह ग्रंथ विक्रम संवत् १७८१ (ई० स० १७२४) मार्गशीर्ष शुद्ध गुरुवार को पिप्पलिका ग्राम में राजा व्याघ्रजित् अथवा सगतावत बाघजी के लिये लिखा ऐसा स्पष्ट होता है। पत्रांक १ के आदि भाग और अंतिम पत्र के २रे भाग में "भूपालवल्लभस्य पुस्तकं॥ महाराज श्री सगतावत बाघजीकस्य॥ पत्र १७१॥" ऐसा लिखा है। इसके अनुसार राजा व्याघ्रजित् को सगतावत क्षत्रिय होना चाहिए। क्योंकि मेवाड़ के राणा नरवीर प्रतापसिंह के कनिष्ठ भ्राता शक्तिसिंह से जो वंश चला वह सगतावत कहलाता है (दे०— टाड राजस्थान भाग १, पृ० ३००)। जावद ग्राम, जहाँ से कि यह ग्रंथ मोल लिया गया, मंदसोर जिले में नीमच स्टेशन से कोई

बारह मील पर स्थित है। यहाँ से करीब ६ मील की दूरी पर अठाना जागीर है। यहाँ के ठाकुर चंद्रावत शिशोदिया वंश के हैं (दे०— Gwalior To Day pp. 224 etc.)। इसके कुछ ही अंतर पर पिप्पलिका अथवा पीपल्या ग्राम है जो कि उदयपुर राज्य में सम्मिलित है। जावद परगने के चारों ओर उदयपुर रियासत की हद है। इससे राजा व्याघ्रजित् अथवा बाघजी का सगतावत उदयपुर का निकट संबंधी होना सिद्ध होता है।

इस ग्रंथ मे १७१ पत्र हैं और इसका आकार ११×४½ इंच है। आदि के १६ पत्र मोटे अक्षरों में लिखे हैं और बाकी का भाग साधारण छोटे अक्षरों में है।·सँभालकर न रखने के कारण इसमें कई जगह दीमक लग गई है। आदि अंत के दो पत्र सफेद कागज से चिपकाकर ठीक किए हैं। विषयनाम, प्रशस्ति, विराम तथा नानाविध चक्रों के लिये लाल स्याही का उपयोग किया गया है। इसकी लिपि तो देवनागरी ही है, परंतु उसमें कहीं कहीं जैन नागरी की झलक उतर आई है। हरएक जैन ग्रंथ के आरंभ में '६ ▭' (नब्बे जैसा) चिह्न[1] होता है, ठीक वैसा ही इसमें भी दिया है। पुस्तक अशुद्ध है। लछीराम की जो रचना पहले दी जा चुकी है उससे वह साधारण ही विद्वान् सिद्ध होता है। यदि वह व्याकरण का उत्तम ज्ञाता होता तो लिपि करते समय शुद्धियों का जरूर विचार करता। ग्रंथारंभ करते समय तथा पूर्ति के बाद लिपिकर्ता ने शिवजी को नमस्कार किया है। इससे उसका शिवभक्त होना निकलता है। भगवान् शिव के उपासक होते हुए भी लछीराम ने जैननागरी का अनुकरण कहीं कहीं किया है। इससे यह साफ प्रतीत होता है कि जैन धर्म का प्रभाव इस देश पर कितना रहा।

प्रकरणवश, रथ, पालकी, हाथी, घोड़ा, हथियार, व्यजन, चामर, छत्र आदि के सुंदर चित्र भी दिए हुए हैं। आदि के चार पद्यों में गणेश,

---

१—इस चिह्न का अर्थ 'ॐनमः' होता है यह बात हमें जैन साधु आचार्य विजयक्षमा सूरि (उज्जयिनी) द्वारा मालूम हुई।

शंकर, योगीश्वरी (कुलदेवता) पिता और गुरु इनका वंदन किया गया तथा इनकी स्तुति भी की गई है। इससे अगले १५ पद्य शास्त्र-प्रशंसा के हैं, जिनमे इस शास्त्र की आवश्यकता, महत्त्व, पठन-पाठन के योग्य व्यक्ति इनका निर्णय किया गया है। कौटिल्य जैसे महान् पंडित ने भी अर्थ-शास्त्र के १९वें अध्याय में, राजा की दिनचर्या का वर्णन करते हुए लिखा है कि दिन के ७ भाग में 'चिकित्सकमाहानसिकमौहूर्तिकांश्च पश्येत्'। इससे इस शास्त्र की महत्ता तथा उपयोग कितना है इसका बोध सरलता से होता है। कर्ता ने इस ग्रंथ का नाम भूपालवल्लभ रक्खा। इसका कारण यह है कि इसमें ज्यौतिषादि संबंधी जिन विषयों का विचार हुआ है वे सब राजा के उपयोग के हैं। इन सबका विवरण दिया जाय तो लेख का विस्तार बहुत बढ़ जायगा। इसलिये इनकी केवल अनुक्रमणिका मात्र उद्धृत की है जिससे इस ग्रंथ का स्वरूप ठीक तरह से समझ में आ सके।

शास्त्रप्रशंसा, सांवत्सरसूत्रम्

॥ इति श्री भूपालवल्लभसारोद्धारे पर्शुरामोपदेशे स्वरशास्त्र सांवत्सरप्रकरणं प्रथमं ॥

मंत्रिफलं, सस्याधिफलं, रसाधिफलं, अयनादिफलं, पंचांगानयनं, पूर्ववर्षे तिथ्यानयनं तात्कालिकपंचांगं, ग्रहानयनं, तिथिप्रकरणं, वारप्रकरणं, मलस्नानप्रकरणं, योगप्रकरणं,

॥ इति श्री भूपालवल्लभे सारोद्धारे पर्शुरामोपदेशे स्वरशास्त्रे करणप्रकरणं ॥

नक्षत्रप्रकरणं, कुलाकुलप्रकरणं, भैषज्यप्रकरणं, मुहूर्तप्रकरणं, उपग्रहादियोगाः, संक्रांतिप्रकरणं, अगशनिः, गोचरप्रकरण, चंद्रावस्था, ताराप्रकरणं, तात्कालिकपंचांगं, अंकमुहूर्तं, पंचकानि, मूलसापंप्रकरणं, गंडांतप्रकरणं, वस्त्रप्रकरणं, लग्नप्रकरणं, रजस्वलाप्रकरणं, गर्भाधानप्रकरणं, जातकर्म, कर्णवेधः, अन्नप्राशनं, चौरकर्म, व्रतबंधप्रकरणं, विद्यारंभः,द्वादशराशिलग्नफलं, डिंभचक्र, नक्षत्रफलं, जन्मलग्नगुणाः, अंशकाः, दशा

इति श्री भूपालवल्लभे सारोद्धारे पर्शुरामोपदेशे द्रेष्काणप्रकरणं समाप्तम् ॥

प्रश्नप्रकरणं, विवाहप्रकरणं, अग्न्याधान, वृषभवास्तु, गृहारंभः, कलशवास्तु, वास्तुप्रकरणं, शय्याचक्रं, बालपर्यंकचक्रं, वेदिकाचक्रं, मर्दनाखंडो, ताम्बूलवर्गः, धान्यवर्गः, क्षीरवर्गः, विष्णुपट्टः, ब्रह्मपट्टः, रुद्रपट्टः, अंगनाचक्रं, इति कालज्ञानमपमृत्युनाशप्रकरणौ, उत्पातः, देवप्रतिष्ठा, गर्भलक्षणं, स्वातियोगः, आषाढीयोगः, रोहिण्यादियोगः, वृष्टिलक्षणं, सप्तनाडिचक्रं, अर्घकांडप्रकरणं, कूर्मचक्राणि, ग्रहयुद्धं, ग्रहसमागमः, ग्रहशृंगाटकं, अहिवलयचक्रं, शल्यज्ञानं, दीपचक्रं, नृपागारचक्र, सिंहासनप्रकरणं, सिंहासनत्रयं, छत्रत्रयं, चामरचक्रं, व्यजनत्रयचक्रं, दोलिकाचक्रं, सेवाकाकिनीचक्रं, मातृकाचक्रं, राज्याभिषेकप्रकरणं, खड्गलक्षण, खड्गचक्रलक्षणं, धनुर्वेदः, चापचक्रं, क्षुरिका चक्रं, कुंतचक्रं, गदामुद्गरौ, लोहयष्टिः, वज्रं, अंकुशचक्र, हस्तचक्रं, शस्त्रप्रकरणं, गजचक्र, द्वितीयगजचक्र, गजप्रकरणं, रथचक्र; कवचलक्षणं, अश्वलक्षणं, वयोलक्षण, अश्वलक्षणशांतिप्रकरणं, वाजिनीराजनं, नारीनीराजनविधिः, निःसानचक्रं, भेरीचक्रं, गड्डरचक्रं, दामाने, काहलामदनकाहला, वीरवाधं, पटहडिंडिमौ, बिबिलादिचतुष्टयं, डमरुकं, शंखः, विषाणं, वाद्यवर्गः, अबकहडचक्रं, सर्वतोभद्रचक्रं, मातृकाचक्रं, द्वितीयमातृकाचक्रं, तृतीयमातृका, विजयचक्रं, बृहत्तरास्वरप्रकरण, सूक्ष्मस्वरप्रकरणं,

॥ इतिश्रीभूपालवल्लभे सारोद्धारे पर्शुरामोपदेशे बातप्रकरणं ॥

राहुचक्रं, मुखादियोगपंचकं, उदरादियोगः, गुदादियोगः, पुच्छादियोगः, पंचविधराहुः, षडंगराहुः, मुखादियोगः, हृदयादियोगः, उदरादियोगः, गुदादियोगः, पुच्छादियोगः, कपालादियोगः इतिषट्कविधिः, कालवक्त्रन्यासः, मुष्कादियोगः, दक्षिणनेत्रादियोगः, दक्षिणकर्णादियोगः, दक्षिणनेत्रादियोगः, दक्षिणकुक्षियोगः, पादयोगः, दक्षिणसंधियोगः, दक्षिणमुष्कादियोगः, शिश्नादियोगः, वाममुष्कादियोगः, वामसंधियोगः, वामपादयोगः, वामकुक्षियोगः, वामहस्तादियोगः, वामकर्णादियोगः,

॥ इतिपर्शुरामोपदेशे कालवक्त्रचक्रं ॥

तात्कालिकराहुकालानलं, पंथाराहुचक्रं, छायागूढं, शनिकालानलचक्रं, भूमिश्च, बालेंदुकालानलं, लग्नचक्रं, संघट्टकालानलं, सूर्यकालानलं, भयंकरचक्रं, घोरकालानलं, पक्षिचक्रं, कुंभचक्रं, इति भूचरखेचरचक्रं ।

॥ इति पर्शुरामोपदेशे चक्रप्रकरणं ॥

स्फुरणं, काकआह्वानमंत्रः, त्रिपिंडविचारः, स्वप्नाध्यायः, यात्राप्रश्न-प्रकरणं, प्रश्नप्रकरणं, लग्नशुद्धिः, ललाटगाः, प्रतिशुक्रं ।

॥ इति भूपालवल्लभे पर्शुरामोपदेशे यात्राप्रकरणं ॥

इत्यभिषेकः, रणादीक्षा, जागरणपूजाविधिः, रणकंकणं, रणपट्टः, जय-पट्टः, मेखलाविधानं, कवचं, न्यासः, मुद्रान्यासः, कंडकं, ओषधयः, गुटिका, कपर्दिका, अस्त्ररक्षा, अस्त्रमोडनं, पिच्छिकाविधिः, त्र्यंबकविधिः, काहलत्र्यं-बकविधिः, मुरजभोजनविधिः, एतद्भस्मकंडनविधिः, यमश्लोकः, मारणं, मोहनं, स्तंभनं, उच्चाटनं, वशीकरणं, मालामंत्रः, हनुमत्पताका, रक्षा, पिछं, होमः, मंडूकयंत्रं, स्तंभयंत्रं, शस्त्रभंगयंत्रं, कलिकुंडः, मृत्युंजययंत्रं,

॥ इति भूपालवल्लभे पर्शुरामोपदेशे मंत्रयंत्रादिप्रकरणं ॥

अडलः, आडलः, आडलचक्रं, चंद्रक्रमणं, विरंचिचक्रं, संघट्टपात-चक्रं, त्रिनाडिपातचक्रं, द्वादशारचक्रं, लोहज्ञानं, पस्तारचक्रं, प्रस्तारतुंबरु, अंशद्वादशारतुंबरु, रुद्रफणिचक्रं, कालवक्त्रं, चंद्रफणिः, घायवडीडिंडिमः, द्वितीय घायवडी, सूर्यचक्रं, मूलस्वरः, तोरणचक्रं, श्येनचक्रं फणीश्वरचक्रं, अहिबलनं, सूर्यफणिचक्रं, सूताचक्रं, वर्गबलं, आयचक्रं, खलकचक्रं, जयभूमिः, कालानला, विजयाभूमिः, भैरवी, बाला, योगीश्वरी, चंडी, यामभूमिः, भुजगा-भूमिः, कर्तरी, शार्दूली, सिंहली, महामाया, माहेश्वरी, देवकोटिः, शिवा, शक्तिः, धूम्रा, माणा, वराटिका, त्रिमुंडा, मत्सरी, धर्मा, मृता, धृष्टा, क्षया, अ या, दुर्मतिः, प्रवरा, गौरी, काली, नारसिंही, बाला, भूचरीखेचरी, गुह्या, वर्तमानमासद्वादशी, विष्टिः, केवला, त्रैलोक्यविजया, कालपाशी, कराली, वडवा, अपराजिता, रौद्री, शिशु, मातंगी, अभेद्या, दहनी, जिता, बहुला, वर्गा, कपालिका, जयः, सूर्यचंद्रं, ग्रह, सूर्ययुतलग्नं, लग्नभूमिः, राहुकालानला-भूमिः, स्वरभूमिः, त्रिकालरुद्रः, ऋक्षराहुः, मासराहुः, पक्षराहुः, दिनराहुः, खंडराहुः, भोगः, मुहूर्तराहुः, कुलिकराहुः, अष्टविधराहुः, राशिचंद्रः, उदय-राशी, मासचंद्रः, पक्षचंद्रः, दिनचंद्रः, तात्कालिकचंद्रः, सूर्यः, योगिनी, त्रिविधमातृकायोगिनी, तिथिकालः, वारकालः, शारीरिका, नक्षत्रभूमिः, कपाटा, राशिकालः, द्वितीयराशिकालः, इति भूबलानि ॥ सूर्यमंत्रः ॥

॥ इति श्रीभूपालवल्लभे पर्शुरामोपदेशे भूबलप्रकरणं ॥

ध्वजापताकानिर्णयः, सेनारूप (?) पंचकं, व्यूहरचना, व्यूहचक्रं, दिग्बलं, कालबलं, बलाबलं, चतुरंगसेनाचक्रं, ग्रामचक्रं, आडलचक्रं, पुरुचक्रं, कविचक्रं, ताराचक्रं, कवियुद्धप्रकरणं, दुर्गचक्रं, द्वंद्वयुद्धं, त्रिविधचक्रं, मल्लयुद्धं, गजयुद्धं, महिषमेषयुद्धं, द्यूतविजयः, वनचक्रं, व्याघ्रमंडलिचक्रं, वराहचक्रं, मृगचक्रं, जलक्रीडाचक्रं, जलवारिधिचक्रं, सस्वचक्रं, विडालादिचक्रं, पक्षिचक्राणि, कूर्मादिचक्रं।

इति श्रीभूपालवल्लभे पर्शुरामोपदेशे स्वरशास्त्रे नानाग्रंथमते सारोद्धारः समाप्तः।

श्रीशालिवाहनशकेष्टमुनिद्विचंद्रसंख्ये प्रयातयति दुर्मुखनाम्निवर्षे।
आषाढमाससितयुग्मतिथौ सुरेज्यधिष्ण्ये दिने व्यरचयद्द्विजपर्शुरामः॥

इस पद्य में कर्ता ने अपना रचना-समय दिया है। इससे स्पष्टतया ज्ञात होता है कि 'परशुराम नामक ब्राह्मण ने यह ग्रंथ श्री शालिवाहन शक १२७८ दुर्मुख नाम संवत्सर आषाढ़ शुक्ल द्वितीया गुरुवार के दिन पुष्य नक्षत्र के योग में लिखकर समाप्त किया।' इस शक में ७८ जोड़ देने से ई० स० १३५६ आता है। अर्थात् ग्रंथ की रचना हुए आज लगभग ५८५ वर्ष बीत चुके। ग्रंथ के अंत में जो ४ पद्य कर्ता ने दिए हैं उनमें से यह पद्य क्रम से तृतीय है।

इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि जिन जिन ग्रंथों के आधार पर इसकी रचना की गई उनके नाम का निर्देश समग्र ग्रंथ में कहीं भी पाया नहीं जाता। केवल :—

'ज्योतिःशास्त्राणि संवीक्ष्य शिवोक्तानागमानपि।

स्वानुभूत्या प्रकुर्वेहं शास्त्रं भूपालवल्लभम्॥' 'नाना ग्रंथमते सारोद्धारः समाप्तः' इतना ही लिखकर छोड़ दिया है। इससे हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि परशुराम ने तत्कालीन उपलब्ध ग्रंथों का यथामति आलोडन करके अपने अनुभव के अनुसार यह ग्रंथ बनाया। शास्त्र-प्रशंसा के १४ पद्यों में, जिनका कि हम पहले उल्लेख कर चुके हैं, निम्नलिखित दो पद्य विशेष महत्त्व के हैं :—

यत्कटाक्षप्रसादेन दरिद्रोपि नृपायते ॥
जडोपि वाचस्पतितां कटाक्षमुनिमुत्तमः ॥
आसीन्निःपापवासी द्विजकुलतिलकः सर्वशास्त्रेष्वधीती
क्वाणः श्रीकृष्णदेवः परहितनिरतो वेदवेदांगवेदी।
तत्सूनुः परशुरामः सकलगणितविच्छ्रीकटाक्षस्य शिष्यः
शिष्यैः संप्रार्थ्यमानो नरपतिदयितं शास्त्रमेतच्चकार ॥

दूसरे श्लोक की दूसरी पंक्ति को 'क्वाणः' शब्द से आरंभ किया है। किंतु क्वाणः शब्द से कुछ बोध नहीं होता। हमारे मत से यह 'काण्वः श्रीकृष्णदेवः' ऐसा होना चाहिए। और ऐसा करने से श्रीकृष्णदेव का शुक्ल यजुर्वेदीय काण्व शाखा का होना सिद्ध होता है। परशुराम ने अपने पिता और गुरु का संकेत यथोचित रूप से करते हुए इनके निवासस्थान का उल्लेख संदिग्ध रूप से किया है। 'निःपापवासी' इस शब्द से परम पवित्र काशी नगरी का बोध होता है। अतः हो सकता है कि स्वयं कर्ता भी यहीं का रहनेवाला हो। शिष्यों की प्रार्थना से यह ग्रंथ कर्ता ने रचा और इसे स्वरशास्त्र के नाम से विभूषित किया। अंत के प्रथम पद्य में वह लिखता है:—

ज्योतिषं पृथगभाणि मुनीन्द्रैर्ज्योतितं पृथगपि स्वरशास्त्रम्।
सर्वसाम्यपि करोतु हि कश्चित् तन्मयात्र विहितो पृथुयत्नः॥

परंतु हमारे मत से यह ग्रंथ विशेषतया मुहूर्त ज्योतिष का ही होना चाहिए। क्योंकि स्वर अर्थात् नासिका के दोनों छिद्रों से निकलनेवाला वायु, और उसी के आधार पर फलादेश बतलाने का जो शास्त्र, वही स्वरशास्त्र कहाता है। और इसका सीधा संबंध प्रश्नशास्त्र से ही है। इस ग्रंथ में जो भाग इस संबंध में दिया है उसके बहुतेरे पद्य शिवस्वरोदय से मिलते-जुलते हैं। अतः इसका संबंध केवल स्वर से न होकर ज्योतिषांतर्गत सब विषयों से है।

इस ग्रंथ का उल्लेख निम्न ग्रंथों में इस तरह से मिलता है—

(१) आफ्रेक्ट सूची, भाग १ पृ० ४१५ अ :—भूपालवल्लभ an encyclopedia of Dharma, Alainkara, Jyotis etc. by

Paraśurāma. B. 4. 170, Bik. 292 ; Bhk. 36. Peters. 1. 108. Quoted by Narayana in मार्तण्डवल्लभा, by Rama in मुहूर्तचिंतामणि, by कमलाकर in निर्णयसिंधु।

(२) काणे साहब का History of Dharmaśāstra भाग १ पत्रांक ५९९ अ :— An encyclopedia of Dharma, Astrology, Poetics & c. m. in नि० सिं० निर्णयदीपक, कालनिर्णय-सिद्धांत व्याख्या।

(३) दीक्षित का भारतीय ज्योतिःशास्त्र :—इसमें कर्ता तथा ग्रंथ का केवल निर्देश किया है।

(४) आफ्रेक्ट सुची भाग १ पत्रांक ५४५ मे भास्कराचार्य के लीलावती ग्रंथ की अनेक टीकाओं के नाम टीकाकारों के नाम सहित उद्धृत किए हुए हैं। इनमें प्रस्तुत ग्रंथकर्ता का भी नाम है, परंतु इसकी टीका का नाम नहीं दिया।

इन संदर्भों से मालूम होगा कि दीक्षित आदि महोदयों ने यह ग्रंथ स्वयं नहीं देखा, वरन् दूसरे ग्रंथों के संदर्भों से निर्देश लेकर अपनी पुस्तकों मे प्रविष्ट किया। इस ग्रंथ मे साहित्य का कोई भी अंग वर्णित नहीं है। Catalogue of Sanskrit Ms S. in C. P. and Berar पुस्तक में सं० ७६३७ के नीचे प्रतिष्ठापाठटीका नामक ग्रंथ परशुराम के नाम पर दिया है। इसका विषय धर्मशास्त्र है और मूलग्रंथकार है आशाधर नामक एक जैन पंडित। इस आशाधर का समय १३वीं शताब्दि का आरंभ माना गया है (N. I. A. Vol III. No. 1, April 1940, Page 37)। अतः हो सकता है कि प्रतिष्ठापाठटीकाकार और प्रस्तुत ग्रंथकार एक ही हों। गवर्नमेंट पुस्तकालय, मद्रास और तंजावर के शरफोजी पुस्तकालय में यह ग्रंथ नहीं है। बीकानेर लायब्रेरी को छोड़ अन्यत्र कहीं हो तो मालूम नहीं।

परशुराम ने अपने को 'सकलगणितवित्' होना लिखा है, इससे वह स्वयं अवश्य ही वैसा होगा इसमें संदेह नहीं। इसके गुरु कटाक्षमुनि का

अभी तक हमें कोई पता नहीं चला कि ये मुनि वस्तुतः कौन और कहाँ के थे। वैसा ही इसके पिता श्रीकृष्ण देव का हाल है।

मृत्यु होने से एक वर्ष पहले से मृत्यु-समय तक की पहचान करने के जो प्रमाण धर्म-भीष्मसंवाद रूप से महाभारत—शांतिपर्व में दिए हैं ठीक उसी तरह इस ग्रंथ में भी संग्रह किए हैं। इसी प्रकार युद्ध के लिये भूमि कैसी चाहिए, इसका विवरण भी बहुत विस्तृत रूप से दिया है। इन सब उल्लेखों से ई० स० १३५६ में, जब कि यह ग्रंथ तैयार किया गया, इस देश की राजकीय तथा सामाजिक परिस्थिति कैसी होगी इसकी अच्छी कल्पना हो सकती है। युद्ध, दुर्ग, सैन्य इत्यादि राजकीय विषयों को छोड़ शेष ग्रंथ के अनुसार भारत में आज भी बहुत से ज्योतिष के कार्य होते हैं। अतः यह समूह रूप ज्योतिष ग्रंथ आज भी महत्त्वपूर्ण होने से प्रकाशनार्ह है।

वीरगाथा-काल की रचनाओं पर विचार

[लेखक—श्री अगरचंद नाहटा]

हिंदी-साहित्य की मौलिक गवेषणा अभी बहुत कम हुई है। जो कुछ नई खोज हुई है उसका ठीक उपयोग भी नहीं हुआ है। फलतः शिवसिंहसरोज एवं मिश्रबंधुविनोद की अनेक भद्दी भूलें अद्यावधि ज्यों की त्यों चली आ रही हैं। हिंदी-साहित्य के कितने ही इतिहास प्रकाशित हो चुके हैं, पर उनके लेखकों ने प्रायः पूर्ववर्त्ती ग्रंथकारों का अनुकरण ही किया है।

हिंदी-साहित्य के वीरगाथा-काल का विचार कीजिए। इस काल की कही जानेवाली अधिकांश रचनाएँ बहुत पीछे की रचित हैं। अतः उन रचनाओं के आधार पर तत्कालीन हिंदी भाषा का जो रूप निर्धारित किया जाता है वह बहुत ही भ्रामक है। जब मैंने इस काल के जैन ग्रंथों की भाषा का अध्ययन किया और उसके साथ इस काल की कही जानेवाली रचनाओं की भाषा की तुलना की तो मेरा यह दृढ़ विश्वास हो गया कि इस काल की एक भी रचना अपने समय की भाषा सुरक्षित नहीं रख सकी है। इस विश्वास की सत्यता निर्धारित करने के लिये मैंने इस काल के कहे जानेवाले समस्त ग्रंथों की छानबीन करनी प्रारंभ की। इस काल के तीन प्रसिद्ध ग्रंथों—पृथ्वीराजरासो, वीसलदेवरासो और खुम्माणरासो के संबंध में अपनी गवेषणाओं के परिणाम मैंने तीन स्वतंत्र लेखों में प्रकट किए हैं।[१]

१—(१) पृथ्वीराजरासो—'राजस्थानी' वर्ष ३, अंक ३।

(२) वीसलदेवरासो—'राजस्थानी' वर्ष ३, अंक ३।

(३) खुम्माणरासो—'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' वर्ष ४४, अंक ४।

अब प्रस्तुत लेख में इस काल की अवशिष्ट समस्त रचनाओं का सिंहा-वलोकन कर लिया जाता है जिससे कि हिंदी-साहित्य के इतिहास की परंपरा-गत भूलों तथा भ्रांतियों का निराकरण होकर वास्तविक तथ्यों का निर्धा-रण हो सके।

मिश्रबंधुओं के संकलित 'मिश्रबंधुविनोद' ग्रंथ की कई आवृ-त्तियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं, पर मेरे विचार से १०० से भी अधिक भूलें तथा भ्रांतियाँ उसमें ज्यों की त्यों अद्यावधि चली आ रही है। इस लेख का विषय वीरगाथाकालीन हिंदी-साहित्य की आलोचना ही होने के कारण अन्य अशुद्धियों के विषय में स्वतंत्र लेख मे प्रकाश डालने की सूचना करते हुए वीरगाथाकालीन जिन रचनाओं का उसमे उल्लेख है उनकी ही सूची दी जाती है :—

(१) संवत् ८९० के लगभग ब्रह्मभट्ट ने खुम्माणरासो रचा।

(२) सं० १००० का रचित भगवद्गीता भुआल कृत सं० १९७६ की खोज में मिला।

(३) सं० ११३७ वाले कालिंजर के राजानंद भी कवि माने गए हैं।

(४) सं० ११८४-९६ में चौलूक्य सोमेश्वर ने हिंदी कविता की।

(५) सं० ११८० के लगभग मसऊद एवं कुतुबअली नामक कवि हुए।

(६) सं० ११९१ मे साईंदान चारण ने 'समतसार' ग्रंथ रचा।

(७) सं० १२०५ से ८५ में अकरम फैज ने 'वर्णमाल' एवं 'वृत्त रत्नाकर' ग्रंथ का भाषानुवाद किया। यह कवि जयपुर[१] नरेश के यहाँ था।

(८) जगनिक ने आल्हाखंड बनाया।

(९) केदार कवि इसी समय हुए।

(१०) जयचंद के पुत्र शिवजी की सभा मे बारद रखेण नामक अच्छे कवि हुए।

१—यह जयपुर यदि प्रसिद्ध जयपुर हो तब तो कवि का समय स्वतः पिछला प्रमाणित हो जाता है।

(११) सं० १२४७ में मोहनलाल द्विज ने 'पत्तलि' नामक ग्रंथ रचा।

(१२) सं० १३२५ में मराठी हिंदी मिश्रित 'बासहरण' ग्रंथ बनाया गया।

(१३) सं० १२८६ से १३५० के लगभग में ज्ञानेश्वर और मुक्ताबाई ने हिंदी कविता को अपनाया।

(१४) इसी समय नामदेव ने रचना की।

(१५) सं० १३५४ में नरपति नाल्ह ने 'बीसलदेरासो' बनाया।

(१६) सं० १३५५ के लगभग नल्लसिंह ने 'विजयपाल रास' बनाया।

(१७) सं० १३५७ में शार्ङ्गधर ने 'हमीर रास' बनाया।

(१८) सं० १३८५ में मुल्ला दाऊद ने 'नूर क चंदा' नामक प्रेम-कहानी लिखी।

(१९) (२०) (२१) अमीर खुसरो, कवि चंद और जिनवल्लभ सूरि प्रसिद्ध हैं ही।

इनमें से सं० १, १५ तथा २० के विषय में मेरे स्वतंत्र लेख प्रकाशित हो चुके हैं, और सं० २ तथा ११ की रचनाएँ बहुत पिछली सिद्ध हो चुकी हैं। सं० ३, ४, ५, ७, ९, १० तथा १८ के ग्रंथों का अभी तक पता नहीं चला और स० १२, १३ तथा १४ के ग्र थ भी मेरे अवलोकन मे नहीं आए। अवशिष्ट ६, ८, १६ तथा १७ के विषय मे कुछ ऊहापोहा की जाती है।

६—संवतसार (समतसार नाम अशुद्ध है) ग्रंथ की २ प्रतियाँ राजस्थान रिसर्च सोसाइटी कलकत्ता के संग्रह में हमारे अवलोकन में आईं। यद्यपि उनमें कर्त्ता एवं रचनाकाल का कोई निर्देश नहीं है, पर सोसाइटी के संग्रहकर्त्ता ने उसे साईंदान रचित ही लिखा है और उन्हें सिलका गोत्र के चारण एव मेवाड़ के सिगला ग्राम के निवासी[1] बतलाया है। ग्रंथ की भाषा पर विचार करने से यह रचना संवत् ११९१ की न

१—हिंदी पुस्तक में बीकानेरवासी लिखा है। यदि वह ठीक हो तो कवि का समय पिछला सिद्ध होता है।

होकर सं० १७०० से १९०० के बीच की प्रतीत होती है।[१] ग्रंथ के कतिपय पद्य नीचे दिए जाते हैं जिससे उसकी भाषा का पता चल जाय—

मिट गयो सकल संदेह, कातिक फल कुँ सुनत ही।
हे देवन के देव, मगसर फल मौकूं कहो॥

आदि—मेघमाल ज्यों ग्रंथ को और जोति को तंत।
जिन देख्या आगम कहुँ समयसार नो ग्रंथ॥ १॥
पारवति तुं प्रश्न हे देवन के देव!
सुरभक्ष दुरभक्ष बरस को अ……………।
मादेव (महादेव) देव उतर दीयो, सुणइ उमा चित लाय।
सुरभक्ष दुरभक्ष बरस को देऊँ भेद बताय॥ ३॥

× × × ×

समतसार के ग्रंथ (न) को पढ़ै गुनै नर कोय।
आगम कथइ सोइ पुरख, जगत महाजस होय॥

इति समतसार संपूर्ण लिखतं नगर लूणावा मध्ये सं० १९२२ शाके १७६६ मासोत्तमे भाद्रमासे शुभे शुक्लपक्षे ४ शुक्रवारे (पत्र २२, पद्य ३१९)

८—जगनिक रचित आल्हाखंड को वीरगाथाकालीन मानना भाषा-शास्त्र की स्पष्टतया अवहेलना करना है। हमारे कतिपय साहित्यिक विद्वानों की यह रूढ़ मान्यता मालूम देती है कि किसी व्यक्ति का गुण वर्णन करने-वाला कवि उसका समकालीन ही होना चाहिए। इसी रूढ़ मान्यता के कारण खुमाणरासो को ९वीं शताब्दी तक का बतलाया गया है, वीसल-दे रासो को अब भी वीसलदे के समय की रचना बतलाया जाता है। इसी प्रकार अन्य कई रचनाओं का हाल है। पर यह धारणा भ्रांतिपूर्ण है,

---

१—बीकानेर के वृद्ध कविराजा सुखदानजी के कथनानुसार इसके रचयिता जोधपुर नरेश मानसिंहजी के समय में हुए हैं, अतः इसका रचनाकाल १६वीं शताब्दी ही प्रतीत होता है।

क्योंकि १०००-२००० वर्ष पूर्ववर्त्ती किसी व्यक्ति के विषय में वर्त्तमान का कोई भी ग्रंथकार या कवि वर्णन कर सकता है, और कर ही रहे हैं। अतः उस ग्रंथकार के समय का निर्धारण करने में अन्य बातों का विचार करना ही आवश्यक है। किसी भी ग्रंथ के समय-निर्धारण के लिये उसकी भाषा भी एक कसौटी होती है। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी का कोई कवि आज की भाषा में ग्रंथ-निर्माण नहीं कर सकता। हाँ, यह कहा जा सकता है कि मौलिक ग्रंथ की भाषा में परिवर्त्तन होते-होते भाषा का नया रूप खड़ा हो सकता है। किसी अंश में यह कथन ठीक भी है, पर आल्हाखंड की भाषा में तो प्राचीनता का अवशेष भी नहीं है अतः इसे मेरे नम्र मतानुसार वीरगाथा-काल की रचनाओं में स्थान नहीं मिलना चाहिए।

१६—नल्लसिंह के विजयपाल रासो का रचना-काल सं० १३५५ के लगभग मानने का आधार क्या है।?[१] विजयपाल रासो की पूरी प्रति भी कहीं मिली है, ऐसा जानने में नहीं आया। स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसाद जी ने अपनी कवि-रत्नमाला के भाग १ पृ० २२ में लिखा है—

"बूंदी से कविराव रामनाथसिंह जी ने विजेपाल रासे का थोड़ सा भाग भेजा है और लिखा है कि वह रास नल्लजीकृत है। इनका इतना ही भाग मिला है।"

नल्लसिंह-कृत विजयपाल रासो की कविता इस ढंग की है—

ब्रजवंश विजयपाल भय, शील शुद्ध ध्रुव अंग।
राजा सब जीते समर, विजयपाल लिय जंग ॥१॥

छप्पय—

बैठि पाट विजयपाल दाट, गज्जन लगि दिन्निय।
खुरासान असपहाँ रूम, चंचल चढ़ि तिन्निय।

१—कुँवर महेंद्रपालसिंह का 'महाराज विजयपाल और उनका रायसा' नामक लेख 'विशाल भारत' के अक्तूबर १९३४ के अंक में प्रकाशित हुआ है। उसमें उक्त रासे के जो उद्धरण दिए गए हैं उनकी भाषा से इस रासो का रचना-काल १७ वीं शताब्दी के बाद का ही संभव है।

ईरानि तूरान भंजि, बल की बपु भारि।
गज्जि देश हबसान पेश लीनी हितकारी।
फिरकान मारि दहबह किय तुरकानी कीनी कियव।
झालरि मृदंग झल्लरि शबद, यों परिहसि असुरन दियव।

उपर्युक्त उद्धरण में आए हुए बैठि, यों आदि तथा सं० ४ के छप्पय में "ले मिले भेंट अगणित नृपति पातसाह पावन लगे, नृप विजयपाल महाराज जू जवे वीररस में पगे", आदि से इनकी भाषा १७ से १९वीं शताब्दी की निश्चित होती है। मेरे विचार से यह रचना १८-१९वीं शताब्दी की होनी चाहिए। पूरा निश्चय तो पूर्ण प्रति मिलने पर ही हो सकता है। पर मुंशी जी के उद्धृत अंश से इतना तो निश्चय ज्ञात होता है कि यह रासो वीरगाथा-काल की रचना नहीं है। मिश्र-बंधुओं ने इसका समय संवत् १३५४ के लगभग किस आधार पर माना है, यह अज्ञात है।

१७—मैं नहीं कह सकता कि शार्ङ्गधरकृत हमीर रासो के रचे जाने का प्रमाण क्या है? अद्यावधि एक भी ऐसा प्राचीन प्रमाण मेरे जानने में नहीं आया जिसमें उक्त रासो का उल्लेख हो और न यह उपलब्ध ही है। पंडित रामचंद्र जी शुक्ल अपने 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' मे लिखते हैं कि "प्राकृत पिंगलमूत्र उलटते-पुलटते मुझे हमीर की चढ़ाई, वीरता आदि के कई पद्य छंदों के उदाहरणों में मिले। मुझे पूरा निश्चय है कि यह पद्य असली हमीररासो के ही हैं।" शुक्ल जी जैसे विद्वान् के उपर्युक्त कथन के विषय में मेरा नम्र निवेदन है कि प्राकृत पिंगल मे हमीर संबधी पद्य मिलते हैं, पर वे हमीररासो के ही हैं, यह कोई तर्क नहीं। वे अन्य ग्रंथ के तथा अन्य ग्रंथकार के भी हो सकते हैं। ऐसा कहने एवं होने के उदाहरण भी अनेक विद्यमान हैं। उस समय प्रायः राजाओं के आश्रय में अनेक कवि रहते थे और समय समय पर यथाप्रसंग फुटकर पद्यों की रचना करते थे। अतः जहाँ तक कोई सबल प्रमाण न हो तब तक शुक्ल जी का कथन निश्चिततया स्वीकार नहीं किया जा सकता।

शुक्लजी के इतिहास (पृ० ६१) आदि कई ग्रंथों में केदार एवं मधुकर कवि रचित जैमयंकजसचंद्रिका एवं जयचंद्रप्रकाश ग्रंथ का उल्लेख किया गया है। दयालदास की ख्यात में जयचंद्र संबंधी वर्णन उन ग्रंथों के आधार पर लिखा गया कहा जाता है। पर मैंने ख्यात का अवलोकन किया तो ऐसा लिखा कहीं देखने में नहीं आया। हाँ, इन ग्रंथों का उल्लेख उसमें अवश्य है। पर यदि ये समकालीन ग्रंथ दयालदास को उपलब्ध होते तो अनेक इतिहास-विरुद्ध बातें जो उसने ख्यात में लिखी हैं, न पाई जातीं।

मधुकर एवं केदार के ग्रंथों का उल्लेख ख्यात में इस प्रकार है—

अरू पीछै राजा ने स्वयंवर कर्णे का विचार किया, जिस दिन में दुर्गा केदार कवि मधुकर भट्ट आए, बीरता उदार गुन नृप के बनाए, तिन ग्रंथ के नाम शुचित दोहा—

> जै मयंक जस चंद्रिका, पुनः जयचंद्रप्रकाश।
> कवि मधुकर केदार किय, जगद नखग गुन जास ॥ १ ॥

वार्त्ता—दोनुं ही ग्रंथ कर नृप जयचंद कुँ सुनाए, जिस वक्त जुगल भाट दान दोय अर्ब के पाए।

(पृष्ठ ३२ A भाग १—प्रति स्टेट लायब्रेरी)

खुसरो की रचनाएँ वीरगाथा-काल की निश्चित मानी जाती हैं। पर मेरे विचार से जिस रूप में वे अभी उपलब्ध हैं उनमें उस समय की भाषा सुरक्षित नहीं है क्योंकि खुसरो की रचनाओं की समकालीन एक भी हस्त-लिखित प्राचीन प्रति अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुई और न तत्कालीन अन्य किसी कवि की भाषा से उसका सामंजस्य ही है। कई विद्वान् कहते हैं कि खुसरो की हिंदी उस समय की बोलचाल की भाषा है, साहित्यिक नहीं। पर अन्य प्रमाणों के अभाव में यह कथन कल्पना मात्र प्रतीत होता है। खुसरो की हिंदी कविता के संपादक बाबू ब्रजरत्नदास जी भी लिखते हैं कि "इतना कहने पर भी इस कविता के आधुनिक रूप का समाधान नहीं होता। यह कहना कि यह कुल रचना ज्यों की त्यों खुसरो

की है, कठिन है। हस्तलिखित पुरानी पुस्तकों के मिलान आदि के साधन दुर्लभ हैं। पिछले संग्रहकार आजकल के खोजियों की तरह छानबीन करने के प्रेमी नहीं थे।"

अतः अभी तक तो मेरी छानबीन के अनुसार वीरगाथा-काल की एक भी जैनेतर रचना उस समय की भाषा में सुरक्षित नहीं है। हिंदी भाषा के इतिहास-लेखकों को भविष्य में इस समस्या पर भली भाँति विचार करना चाहिए।

सुरति-निरति

[लेखक—डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, एम० ए०, एल-एल बी०, डी० लिट०]

सुरति तत्त्व संतों के सिद्धांत और साधन-पथ की भित्ति है। हिंदी में सुरति का सामान्य अर्थ है स्मृति, याद। तुलसीदास,[1] सूरदास,[2] घनानंद[3] से लेकर हरिऔध[4] तक अधिकांश में इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। इस अर्थ में यह शब्द संस्कृत के 'स्मृति' शब्द से निकला है। 'म' का लोप, 'ऋ' का 'उ' में परिवर्तन और उसके संसर्ग से 'र' का आगम—इस प्रकार सुरति शब्द सिद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त और अर्थों में भी इसका प्रयोग मिलता है। सुरति का अर्थ सुष्ठु प्रेम (सु-रति) और सुरति का अर्थ रति-क्रीड़ा (सुरत)। इस प्रकार 'सुरति' अक्षर-समूह में तीन शब्दों का परिवर्तित रूप छिपा है। कवि सेनापति ने तीनों

१—बारबार रघुनाथहिं सुरति करायहु मोरि।—रामचरितमानस, कांड ७, पद १६। और भी देखिए २,५६; २, ३२५, ३, २१; ५, १४; ६, ६६ (गीता प्रेस संस्करण)।

२—रीती मटकी सीस धरै।

बन की घर की सुरति न काहूँ, लेहु दही यह कहति फिरै।

कबहुँक जाति कुंज भीतर कौं, तहाँ स्याम की सुरति करै॥

—सूर-सुषमा, पृ० १९१, ३६०।

३—लागी है लगनि प्यारे, पगी है सुरति तोसों, जगी है बिकलताई, ठगी सी सदा रहै।—सुजान सागर, (ना० प्र० स० संस्करण) पृ० ७४, ६३।

४—कंसारी को सुरति ब्रज के वासियों की कराना।

—प्रिय-प्रवास, सर्ग ६, छंद १९।

अर्थों में एक ही पंक्ति में इस शब्द का प्रयोग करके[1] यमक का उदाहरण प्रस्तुत किया है।

संतों ने इस शब्द का प्रयोग स्मृति के अर्थ में किया है। उनका सिद्धांत है कि सत्तत्त्व परब्रह्म इसी शरीर में है। परमात्मा और आत्मा तथा आत्मा और जीव मे कोई तात्त्विक अंतर नहीं। माया के सूक्ष्म-स्थूल आवरणों को धारण कर ब्रह्म ही जीव हो गया है। हमें इस बात का ज्ञान न होने पर भी वह हमारे भीतर अपने पूर्ण प्रकाश से जाज्वल्यमान है। ब्रह्म से शब्द-ब्रह्म, त्रैगुण्य पंचभूत, अंतःकरण, अहंकार और स्थूल माया—इस प्रकार ब्रह्म के विवर्तन से चराचर सृष्टि का बंधान खड़ा हुआ और जीव बंधन में पड़ा। ब्रह्म के ऊपर पड़ी हुई परतें दूसरी दृष्टि से देखने से कोश नाम से अभिहित की जाती हैं। अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश, आनंदमय कोश आत्मा के ऊपर पड़ी हुई परतें ही हैं। कल्पना कीजिए कि एक न बुझनेवाला बृहत् प्रकाश-पुंज है जिस पर एक के ऊपर एक दूधिया काँच और अन्य धातुओं के कई खोल चढ़े हुए हैं जिससे प्रकाश बाहर नहीं दिखाई देता। परंतु हमारे न देख सकने पर भी प्रकाश तो वहाँ है ही। यही दशा हमारे भीतर के प्रकाश की है। अंतर केवल इतना है कि उक्त प्रकाश-पिंड के ऊपर से परतें हटाकर हम उसका दर्शन कर सकते हैं किंतु आत्मा के ऊपर की परतें यों नहीं हटाई जा सकतीं। अब यदि हमारे वश में ऐसी क्रांतदर्शी किरण हो जो घनी से घनी धातुओं में प्रवेश कर उनको भी पारदर्शी बना दे तो इन खोलों के ऊपर उसका प्रयोग कर उन्हें बिना हटाए ही हम इस प्रकाश-पुंज का दर्शन करलें। ब्रह्मज्योति के संबध में सुरति यही क्रांतदर्शी किरण है जिसके द्वारा जीव इसी जीवन में ब्रह्म-साक्षात्कार करके मुक्त हो सकता है, जीवन्मुक्त हो सकता है।

१—सेनापति साँवरे की सुरति की सुरति की सुरति कराइ करि डारत बिहाल हैं। (साँवले कृष्ण की सुंदर प्रेमवाली रतिक्रीड़ा की स्मृति कराकर राधिका को व्याकुल कर देते हैं।)

जीवात्मा जीव होते हुए भी आत्मा है। जीवत्व में उलझा हुआ आत्मा अपने आत्मत्व को कभी त्यागता नहीं है। इस माया-जनित विस्मृति में भी जीव को कभी कभी अपने आत्मत्व की स्मृति हो आती है। ऐसे अवसरों पर कभी बिना प्रत्यक्ष कारण के और कभी दुःख-शोकादि से उद्विग्न होकर संसार से उसका जी उचट जाता है। क्या उसे तृप्ति देगा, वह यह नहीं जानता। हाँ, उसे यहाँ तृप्ति नहीं मिलती। बाल्यावस्था के भोलेपन में दार्शनिक प्रवृत्तिवाले भावुक कवि इस स्मृति की—शुद्ध आत्म-ज्योति की—झलक देखते हैं। संत योगी इसी लिये आध्यात्मिक जागर्ति की तुलना बालकपन से करते हैं और फिर से बालक हो जाना चाहते हैं[1]। बालकपन में 'यहाँ' की विस्मृति और 'वहाँ' की स्मृति रहती है। बालक मानो परमात्मा के पास से सद्यः आता है। गर्भस्थ शिशु की कल्पना संत लोग एक तपस्वी के रूप में करते हैं। पूर्व-कर्मों के कारण जीव को गर्भ में आना पड़ता है। वहाँ वह मानो पूर्व-कृत कर्मों के लिये पश्चात्ताप करता हुआ विशुद्ध प्रार्थनामय[2]—परमात्मामय—अस्तित्व रखता है। इसलिये शुद्ध आध्यात्मिक रूप में वह जगत् में अवतरित होता है। शैशव में इसी लिये स्मृति मानो मूल की ओर रहती है। प्रारंभ में 'अहं' का ज्ञान शिशु को नहीं रहता। धीरे-धीरे अहं की भावना उसके भीतर प्रतिष्ठित होती जाती है। यहाँ की स्मृति वहाँ की स्मृति को दबाती जाती है। जो कुछ कर्म वह करता है 'मैंने वह किया, मैं उसका कर्ता हूँ', इस रूप में यहाँ की प्रत्यभिज्ञा (स्मृति-ज्ञान) उसको होती है। यहाँ की प्रत्यभिज्ञा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, वहाँ की स्मृति विस्मृति में बदलती जाती है, और इसके साथ ही कर्मों का बंधन और माया का अंधकार भी[3]। माया-जाल के इसी बंधन को वह

१—कबीर ग्रंथावली पृ० २९, ११। देखिए आगे टिप्पणी ४, पृष्ठ २६७।

२—गरभ कुंडि नर जब तू बसता, उरध ध्यान ल्यौ लाया।
उरध ध्यान मृत मंडलि आया, नरहरि नांव भुलाया॥
कबीर ग्रंथावली, पृ० २२१, ४०१।

३—उजला आया वतन से जतन किया कर काल।
चाल भुलानो आपनी यों भया बंधन जाल॥ तुलसी, रत्नसागर, पृ० १७।

अपना घर समझने लगता है। वहाँ की स्मृति सर्वथा दबती जाती है और यहाँ की प्रत्यभिज्ञा उसके समस्त अस्तित्व को घेर लेती है। यहाँ की प्रत्यभिज्ञाएँ ही जीव को उसका जीवत्व देती हैं, जीव को जीव बनाती हैं और दुःख में डालती हैं। इसी लिये राधास्वामी संप्रदाय में जीव को सुरति कहते हैं। जीव 'यहाँ' की सुरति है, 'वहाँ' की सुरति नहीं। चेतना सुरति का मार्ग है। इसलिये विस्तृत अर्थ में मन ही सुरति है[1]। सुरति की

१—चेतन पैंडा सुरति का, दादू रहु ल्यौ लाइ।

—दादूबानी भाग १ पृ० ८६।

भीखा! यही सुरति मन जानो। सत्य एक दूसर मति मानो॥

—महात्माओं की बानी, पृ० १९९।

श्री संपूर्णानंद ने 'स्रोत' से 'सुरति' को निकाला है और चित्तवृत्तिप्रवाहः उसका अर्थ किया है।—विद्यापीठ (त्रैमासिक), भाग २, पृ० १३५।

यहाँ की सुरति के अर्थ में 'स्रोत' का प्रयोग धम्मपद में भी हुआ है जिसमें मन के ३६ स्रोत माने गए हैं। आँख, कान, नाक, जीभ, काया (त्वचा), मन, रूप, गंध, शब्द, स्पर्श, धर्म (मन का विषय), आँख का विज्ञान (आँख से होनेवाला ज्ञान), कान, नाक, जीभ, काया (त्वचा) के विज्ञान-भीतरी बाहरी भेद से ये ३६ स्रोत हैं जिनमें मन बहता है—

यस्स छत्तिसती सोता मना पस्सवना भुसा।

वाहा वहन्ति दुद्दिट्ठि सङ्कप्पा रागनिस्सिता॥ —२४, ६।

(जिसके छत्तीस स्रोत मन को भली लगनेवाली वस्तुओं में ही लगाते हैं उसके लिये राग निस्सृत संकल्प बुरी धारणाओं को वहन करते हैं।)

सवन्ति सब्बधि सोता लता उब्भिज्ज तिट्ठति।

तं च दिस्वा लतं जातं मूलं पंचाय छिंदथ॥ —२४,७।

(ये स्रोत सब दिशाओं में बहते हैं जिससे तृष्णा-रूप लता अंकुरी रहती है। उत्पन्न हुई उस तृष्णालता को देखकर प्रज्ञा से उसकी जड़ को काटो।)

गति दोनों ओर है—'इधर' भी, 'उधर' भी, सुलटी भी उलटी भी[1] । 'वहाँ' की सुरति माया में भी आत्मा का शुद्ध रूप है, यहाँ की सुरति आत्मा का माया में बद्ध (जीव) रूप है[2] । राधास्वामियों को छोड़कर अन्य सब संतों ने 'वहाँ' की स्मृति के अर्थ में ही सुरति शब्द का प्रयोग किया है। योग की साधनाओं के द्वारा अथवा अन्य कई अव्यक्त कारणों से कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को कई जन्मों की स्मृति हो आती है। वह भी, चमत्कारी होने पर भी, 'यहीं' की स्मृति है, 'वहाँ' की नहीं।

मन की बहिर्मुख वृत्ति का कारण 'यहाँ' की प्रत्यभिज्ञा है। 'वहाँ' की सुरति उसे अंतर्मुख बनाती है। मन के प्रसरणशील स्वभाव को पीछे की ओर मोड़ना ही, सुलटी सुरति को उलटी करना ही,[3] साधना-मार्ग है, प्रभु से सम्मुख रहना है।[4] इसी लिये संतों ने स्मरण का विधान किया है। संत-मत ही में क्या, प्रायः सब साधना-मार्गों में किसी न किसी रूप में स्मरण का विधान किया गया है। सत्संग, दीक्षा-ग्रहण, जप-तप, योग, सब इसी एक उद्देश्य के लिये किए जाते हैं। ये सब अपनी अपनी दिशा

१—उलटा सुलटा दौंह दिसा चालै सुरति सुभाय।

—गरीबदास, "आदि ग्रंथ", अंग ४९, ५४, पृ० १७३।

२—जिसकी सुरति जहाँ रहै, तिसका तहाँ बिसराम।

भावै माया मोह मैं, भावै आतम राम॥

—दादू बानी, भाग १, अंग ६, १०७, पृ० ११२।

बिषिया अजहूँ सुरति सुख आसा। हूँण न देइ हरि चरण निवासा॥

—कबीर-ग्रंथावली, पृ० ११४, ८२।

३—पालो तब नाम-कुल करतार, बाँधकर चढ़ो सुरत का तार।

मीन मत चढ़ गइ उलटी धार, मकरगत पकड़ा अपना तार॥

—सारवचन, भाग १, पृ० २१३।

४—जै तन माहैं मन धरै, मन धरि निर्मल होइ।

साहिब सौं सनमुख रहै, तौ फिरि बालक होइ॥

—कबीर-ग्रंथावली, पृ० २९, १२।

से, सुरति को अन्यत्र से हटाकर परम तत्त्व में सिमटाते हैं। जब तक सुरति सिमटकर बिना टूटे सूत्र की भाँति आत्मा में एकतान भाव से नहीं लगती, तब तक लक्ष्य-सिद्धि नहीं होती[1]। सत्संग—साधु और गुरु का संग—सुरति को उलटने के लिये अनुकूल परिस्थिति प्रस्तुत करता है। इस वातावरण में नाम-मंत्र प्रदान कर गुरु पुरातन स्मृति के टूटे हुए तार को जोड़ता है। साधुओं की, गुरु की संगति में साधक 'वहाँ' की बातें सुनता है जिससे उसके हृदय मे 'वहाँ' के लिये प्रीति उत्पन्न होती है और स्मरण में उसका जी लगता है। इसी लिये किसी-किसी ने[2] 'श्रुति', श्रवण से 'सुरति' की व्युत्पत्ति मानी है। जगत् मे भी गुण-श्रवण मात्र से प्रेम (विरह) उत्पन्न हो जाता है, जैसा नल-दमयंती को परस्पर हुआ था। और जिस क्षेत्र में दर्शन प्रेम के बिना असंभव है उसकी बात ही क्या कहनी है[3]। बिना पहले हमारे हृदय में प्रेम उत्पन्न हुए परमात्मा का दर्शन करना

१—जब लग सुति सिमटै नहीं मन निहचल नहिं होइ।
तब लग पिव परसै नहीं बड़ी बिपति यह मोइ॥
—दादू बानी, भाग १, पृ० ३१,१९।

प्रेम करु तुम नेम हिय मैं सुरति डोरी धुनि।
दास बुल्ला बानि बोलहि आनि तिरबेनि॥—बुल्ला, बानी पृ० ८,६।

सुरति सदा स्यावति रहै तिनके मोटे भाग।
दादू पीवै राम रस रहै निरजन लाग॥
—दादू बानी, भाग १, अंग ५,३० पृ० ६०।

२—कोटि ग्रंथ का अरथ है सुरति ठिकानै राख।
—गरीबदास, 'आदिग्रंथ', अंग ५४, १८, पृ० २३८।

'सरस्वतीभवन स्टडीज', भाग ८ में तारकनाथ सान्याल का लेख 'इंडियन फिलॉसफी'।

३—देवै किरका दरद का टूटा जोड़ै तार।
दादू साधै सुरति को सो गुर पीर हमार॥
—दादू बानी, भाग १, पृ० ६।

हमारे लिये शक्य नहीं। इसी लिये अपने आत्मत्व के उपपादन के लिये स्मरण का विधान है, क्योंकि स्मरण प्रेम ही का दूसरा रूप है।[1] परमात्मा का स्मरण तो सब करते हैं पर काम पड़ने पर। भगवान् की प्रीति तब सिद्ध हो सकती है जब ऐसा स्मरण नित्य हो[2]। स्मरण अगम से आती हुई सृजन की धारा को—जहाँ तक व्यक्ति का संबंध है—उलटे अगम में पलटना है। स्मरण की चरम सीमा अजपा जाप है जिसमें साधक का एक क्षण भी परमात्मा के प्रेम के बिना नहीं बीतता है। उसकी प्रत्येक साँस स्मरण का प्रतिरूप हो जाती है। उसका सारा अस्तित्व परमात्मा की स्मृतिमय, सुरति-मय हो जाता है[3]। जिह्वा से राम-नाम कहने से लेकर अजपा-जाप तक सब स्मरण ही है और सुरति की उलटी धार है। अंत में वह अवस्था आती है जिसमें सुष्ठु रति निःशेष या निरतिशय रति हो जाती है[4]। सुरति इतनी पूर्ण हो जाती है कि वह स्मृति नहीं रह जाती।

१—सुमिरन मन की प्रीति है। —कबीर-वचनावली, पृ० १२,१११।

२—काम परे हरि सुमिरिए, ऐसा सिमरौ नित्त।
अमरापुर बासा करहु, हरि गया बहेमै वित्त ॥
—कबीर-ग्रंथावली, पृ० २५०, २३।

३—सूरति रूप सरीर का पिव के परसें होइ।
दादू तन मन एक रस सुमिरण कहिए सोइ ॥
—दादू बानी, भाग १ अंग ४, १६३, पृ० ६३।

श्रुति भी 'स्मृति' को ब्रह्मोपलब्धि का साधन मानती है। छांदोग्य कहता है कि स्मृति प्राप्त होने पर सब ग्रंथियाँ छूट जाती हैं—स्मृतिलम्भे सर्वग्रंथीनां विप्रमोक्षः—७,२७,२।

अट्ठारह अध्याय गीता श्रीकृष्ण के मुख से सुन लेने पर अर्जुन को जो लाभ हुआ वह स्मृति-लाभ ही है जैसा उसने स्वयं अपने मुँह से कहा है—नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत। १८,७३।

४—जैसे 'सुरति' की एक संभव व्युत्पत्ति 'सुष्ठु रति' है, वैसे ही 'निरति' की 'निःशेष या निरतिशय रति' भी।

परमात्मा के साथ जीवात्मा का संबंध चेतना में स्मृति रूप से नहीं तद्‌ात्म-रूप से हो जाता है[१]। यह अवस्था 'निरति' कहलाती है[२]। यही वास्तविक ज्ञान की अवस्था है जो सच्चे साधक की उत्सर्पिणी प्रार्थना है[३]। उसमें माया का सर्वथा त्याग और आत्मतत्त्व का पूर्ण प्रतिष्ठापन हो जाता है।[४] काल के चंगुल से छूटकर जीव स्वयं परमात्मा हो जाता है। और, आध्यात्मिक आनंद में निमग्न होकर नाचने लगता है[५]। यह सुरति की निरति दशा है। 'निरति' शब्द नृत्य का परिवर्तित रूप है और ब्रह्मानंद का द्योतक।

१—तूं तूं करता तूं हुआ। —कबीर-ग्रंथावली, पृ० ५,९।

२—सुरति समाणीं निरति मैं निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया तब खूले स्यंभ दुआर ॥ २२ ॥
सुरति समाणीं निरति मै, अजपा माहैं जाप।
लेख समाणां अलेख मै, यूं आपा माहैं आप ॥ २३ ॥
—कबीर-ग्रंथावली, पृ० १४।

३—तू है तैसी सुरति दे, तू है तैसा खेम ॥
—दादू बानी, भाग १, पृ० ३४, ४४।

४—ब्रह्म और माया में, आत्म और अनात्म में, अंतर करनेवाली निर्णायक शक्ति विवेक कहलाती है। राधास्वामी साहित्य में इसी लिये निरति का अर्थ निर्णय करनेवाली शक्ति लिया गया है—सारवचन, भाग १, पृ० २३७ (आठवीं आवृत्ति)। परमात्मा का वास्तविक ज्ञान निरति में ही होता है, मानो हमें परमात्मा का पता लग गया, खबर मिल गई। इसी लिये डिंगल साहित्य में 'निरति' का अर्थ पता लगना, समाचार मिलना होता है—

राजा, कउ जण पाठवइ ढोलइ निरति न होइ।
मालवणी मारइ तियउ पूगळ पथ ब्नि कोइ ॥
—ढोला मारू रा दूहा, ६६ दू०।

५—और मार्गों मे भी तदात्म-अनुभव में नृत्य भाव माना गया है—
यदानंद समुत्पन्नं नृत्यते मोक्ष-हेतुना। ('द्विकल्प')
—बौद्ध गान ओ दोहा कोष, पृ० ३१, अंतिम पंक्ति।

शाहजहाँ-कालीन कुछ काशीस्थ हिंदी-कवि

[लेखक—श्री दशरथ शर्मा]

कवींद्राचार्य अपने समय के अच्छे विद्वान् एवं प्रभाव-संपन्न व्यक्ति थे। प्रयाग, काशी आदि तीर्थ स्थानों को शाहजहाँ द्वारा कर-मुक्त करवाकर इन्होंने हिंदू-जनता को अपना ऋणी बनाया था और इसी ऋण को, किसी अंश में चुकाने के लिये, काशीस्थ संस्कृत एवं हिंदी के प्रसिद्ध पंडितों और कवियों ने संस्कृत श्लोकों तथा हिंदी पद्यों में इनका गुणगान किया था। ये संस्कृत श्लोक 'कवीन्द्रचन्द्रोदय' नामक संस्कृत ग्रंथ के रूप में पूना से प्रकाशित हो चुके हैं, किंतु हिंदी पद्य अभी अप्रकाशित हैं। संभवतः हिंदी जनता इनके विषय में विशेष जानती भी नहीं। ये 'कवींद्र-चंद्रिका' नाम की पुस्तक में ग्रथित हैं और इसकी एक हस्तलिखित प्रति बीकानेर की श्री अनूप संस्कृत लाइब्रेरी में वर्तमान है।

श्री कवींद्राचार्य के गुणगान करनेवाले इन हिंदी-कवियों के नाम निम्नलिखित हैं—

१—श्री सुखदेव कवि
२—श्री नंदलाल कवि
३—श्री भीष कवि
४—श्री पंडितराज कवि
५—श्री रामचंद्र कवि
६—श्री कविराज कवि
७—श्री धर्मेश्वर कवि
८—श्री हरिराम कवि
९—श्री रघुनाथ कवि
१०—श्री विश्वंभरनाथ मैथिल कवि
११—श्री शंकरोपाध्याय कवि

१२—श्री भैरव कवि

१३—श्री सीतापति त्रिपाठि-पुत्र मणिकंठ कवि

१४—श्री मंगद कवि

१५—श्री गोपाल त्रिपाठि-पुत्र मणिकंठ कवि

१६—श्री विश्वनाथराम कवि

१७—श्री चिंतामणि कवि

१८—श्री देवराम कवि

१९—श्री कुलमणि कवि

२०—श्री त्वरित कविराज कवि

२१—श्री गोविंद भट्ट कवि

२२—श्री जयराम कवि

२३—श्री वंशीधर कवि

२४—श्री गोपीनाथ कवि

२५—श्री राम कवि

२६—श्री जादवराय पंडित

२७—श्री जगतराय

२८—श्री चंद्रकवि

इनमे पंडितराज सभवतः रसगंगाधरादि के रचयिता पंडितराज श्री जगन्नाथ हैं। इनका पद्य यह है—

आनिही गंग भगीरथ स्वारथ, तैं पर-स्वारथ देह धरी है।
साहि सों जाइ छुड़ाइ दियो करु ही, हरष्यो हरु ताप हरी है॥
पंडितराय त्रिविक्रम को सो पराक्रम, और की हद्द परी है।
ऐसी भई नहि ह्वै है न काहू सों, जैसी गुसाईं कवींद्र करी है॥

अन्य कवियों के विषय में गवेषणा करना काशीस्थ विद्वानों का कर्तव्य है। संभवत: इन कवियों के कई वंशज भी काशी में वर्तमान हों। यदि वे अपने पूर्वजों एवं एक महान् कार्य की स्मृति बनाए रखना चाहें तो उनका इतना ही नहीं, अपितु यह भी कर्तव्य है कि 'कवींद्रचंद्रिका को' प्रकाशित करें।

अभागा दारा शुकोह

[लेखक—श्री अविनाशकुमार श्रीवास्तव]

सोमवार २० मार्च सन् १६१५ की रात्रि में, मेवाड़ की सफलता के एक मास पश्चात्, भारतवर्ष की ऐतिहासिक नगरी अजमेर में राजकुमार खुर्रम की प्रियतमा मुमताजमहल ने शाहजहाँ के सब से प्रिय, सबसे विद्वान् पर सबसे अभागे दारा शुकोह को जन्म दिया। बाबा का दिया हुआ 'मुहम्मद दारा शुकोह' का नाम, पिता का दिया हुआ 'शाहे बुलंद इकबाल' का खिताब राज-सभासदों की दी हुई 'गुले अव्वलीने गुलिस्ताने शाही' की पदवी और भगवान् की दी हुई अखंड ज्ञान-राशि भी राजकुमार दारा के नाटकमय जीवन के करुणतम भाग को किसी प्रकार अमिट न कर सकी। चौदह भाई-बहनों के मध्य, सम्राट् शाहजहाँ के तृतीय पुत्र तथा महान् मुगल साम्राज्य के उत्तराधिकारी दारा को संसार के रंगमंच पर ऐसा अभिनय करना था जिसका उपसंहार दर्शकों तथा श्रोताओं से आँसुओं और आहों की भिक्षा माँगता रहा।

जब दारा की अवस्था दो वर्ष की थी, राजकुमार खुर्रम दक्षिण प्रांतों के सूबेदार नियुक्त हुए। किंतु महारानी नूरजहाँ के राजनैतिक कौतुकों ने सन् १६२३ में उन्हें विद्रोह करने के लिये विवश किया। २४ महीनों तक दक्षिण और पूर्व मे भटकते रहने पर भी जब सफलता न मिली तो राजकुमार ने अपने पिता से क्षमा की याचना की। पर इसके साथ उन्हें अपने दो पुत्र, दारा और औरंगजेब, सम्राट् के ही पास भेज देने पड़े। वहीं, उस समय के राजकुमारों की शिक्षा के अनुसार, दारा की भी शिक्षा-दीक्षा हुई। मुल्ला अब्दुल लतीफ सुल्तानपुरी ने इस मुगल शाहजादे को आरंभ में कुरान शरीफ, फारसी के साहित्यिक ग्रंथ तथा तिमूर के इतिहास की सुंदर शिक्षा दी। 'माकूलात' (आन्वीक्षिकी) में भी अब्दुल लतीफ

ने दारा को निपुण कर दिया। लेखन-कला में उस समय के सुप्रसिद्ध शोभनलेखन (खुशनवीस) कलाकार अब्दुर्रशीद दैलेमी ने दारा को ऐसा चतुर बनाया कि उसकी लिपि पटना की ओरियंटल पब्लिक लाइब्रेरी में आज भी देखी जा सकती है। पत्र-लेखन-कला में भी अबुलफज्ल का आदर्श रखकर उस बाल्यावस्था में दारा ने अनुपम नैपुण्य प्राप्त किया। पर इन सब के अतिरिक्त, एक बुद्धिमान् बालक तथा एक योग्य छात्र होते हुए भी, कुमार दारा को फिरदौसी और सादी से उतना प्रेम न था जितना रूमी और जामी से। काव्य और दर्शन उसके मुख्य विषय थे। इतिहास में उसे इतनी रुचि न थी। यदि शाहजहाँ सिकंदर महान्‌ की भक्ति कर सकता था तो उसका सुपुत्र दारा अरस्तू और अफलातून की। 'कुरान शरीफ' और 'हदीस' का उसने अध्ययन किया था पर एक सिद्धांती की दृष्टि से जो उसके विषय को प्रमाण-सिद्ध करने का इच्छुक हो। मुहम्मद और इस्लाम में उसे विश्वास था, पर एक सर्वसामान्य हृदयवाले पुरुष की दृष्टि से, जो इसमें सहिष्णुता, सभ्यता और दर्शन-ज्ञान का वास्तविक सम्मिश्रण करके संसार में इसे मानव-उन्नति का साधन बनाना चाहता हो। 'तौहीद' (विश्वदेवतावाद) के सिद्धांतों की खोज के संबंध में यहूदी, ईसाई, ब्राह्मण आदि अनेक जातियों के धर्मग्रंथों के अनुवाद का उसने विवेचनात्मक दृष्टि से पठन किया। संस्कृत को उसने सदैव उच्च स्थान दिया, किंतु इस्लाम के धर्मशास्त्रों की उसने कभी चिंता नहीं की—वह उसमें से कट्टरता, असहनशीलता एवं मानसिक वंध्यता को निकालकर दूर फेंक देना चाहता था। शाहजहाँ ने उसे अपने ही पास रखकर राजनीति मे निपुण कर देना चाहा, पर उदारता की सरिता में निमग्न दारा ने केवल अकबर को ही अपना आदर्श रखा और उसकी स्वतंत्र हिंदू-मुस्लिम-विषयक नीति को अपने जीवन का एकमात्र ध्येय। पर क्या अकबर की भाँति उसके कंधों में इतनी शक्ति भी थी कि वह इतने महान् आदर्श को प्रत्येक दिशा से उसी भाँति सँभाल सकता?

विवाह—१६२९ मे जब खाँजहाँ लोदी विद्रोह करके दक्षिण भाग गया तो सम्राट् शाहजहाँ ने इस भय से कि कहीं वह बीजापुर के शासक से मिलकर कोई बड़ा उपद्रव न कर दे, उसका पीछा किया। मार्ग में जब

खानदेश से होकर शाहजहाँ की सेना जा रही थी तो उनकी मलका मुमताजमहल ने दारा का विवाह स्वर्गीय राजकुमार सुल्तान पर्वेज की पुत्री करीमुन्निसा (नादिरा बानू बेगम) से करने की इच्छा प्रकट की। शाहजहाँ को इसमे विशेष हर्ष हुआ और उसने विवाहोत्सव के विराट् आयोजन की आज्ञा दे दी। किंतु बेचारी मुमताज अपने प्रिय पुत्र के इस सौभाग्य को देखने के लिये जीवित न रह सकी—बुरहानपुर नामक स्थान पर ७ जून १६३१ की रात्रि में अपनी अंतिम पुत्री, गौहर आरा बेगम, को जन्म देने के पश्चात् उसकी मृत्यु हो गई।

उसके अनंतर शुक्रवार पहली फरवरी १६३३ तक किसी प्रकार का भी उत्सव न मनाया गया। हाँ, जहानारा बेगम तथा सिति उन्निसा खानम की देख-भाल मे विवाह की तैयारियाँ अवश्य होती रहीं। शाहजहाँ ने इसमें ३२ लाख रुपये व्यय किए जिसमें १६ लाख केवल जहानारा ने स्वयं ही दिए थे। १ फरवरी १६३३ से विवाहोत्सव आरंभ हुआ। दीवाने-खास मुमताज की मृत्यु के पश्चात् एक बार पुन: चमक उठा। असंख्य दीपकों के प्रकाश से आलोकित वह राज-प्रासाद अनेक सुंदरियों की स्वर-लहरी से रह-रहकर गूँज उठता था। वहाँ एक अनुपम 'जश्न' था। शाहजहाँ भी मुमताज की मृत्यु के बाद पहली बार 'मजलिस' में 'शरीक' हुए थे। हेन्ना-बंदी की रस्म सविधि समाप्त होने के पश्चात् दूसरी रात्रि में शाहजहाँ ने दारा के सिर पर वह सेहरा बाँधा जो जहाँगीर ने कभी मुमताज से विवाह होते समय उनके सिर पर बाँधा था। फिर, काजी मुहम्मद इस्लाम ने दो घड़ी और ६ प्रहर रात्रि व्यतीत होने पर उनका विवाह कराया। जलसे और खुशियाँ आठ दिन तक मनाई जाती रही थीं जब शाहजहाँ अपने अन्य पुत्रों तथा राज-सभासदों सहित उसे बधाई देने पधारे।

दारा का विवाहित जीवन सदैव सुखी रहा, नादिरा बेगम अंत तक अपने प्रिय पति की सच्ची अर्धांगिनी बनी रही। वह सुंदर, सुशील और विदुषी महिला थी—मुमताज से किसी प्रकार भी कम नहीं। पति-भक्ति और अपने कर्त्तव्य को नादिरा ने सदैव उच्च स्थान दिया, और दारा भी

अंत तक उसे सच्चे हृदय से प्यार करता रहा। उसके हरम में उस समय की रीति के अनुसार अन्य स्त्रियाँ भी थीं, पर उसने अपना दूसरा विवाह संपादित नहीं किया। मानुची (Manucci) का कथन है कि दारा एक बार रानादिल नाम की एक हिंदू नर्तकी पर आसक्त हो उठा था पर वह बिना विवाह किए उसके हरम में आना न चाहती थी। शाहजहाँ ने पहले इसकी आज्ञा न दी पर जब दारा को इससे बहुत अधिक शोक हुआ तो सम्राट् ने विवाह की आज्ञा दे दी। मानुची पुनः लिखता है कि रानादिल दारा की आजीवन पतिव्रता और सहधर्मिणी स्त्री रही। ज्ञात नहीं यह कथन कहाँ तक सत्य है, किंतु दारा का नादिरा के प्रति प्रेम कभी भी कम नहीं हुआ। एक बार दर्बार के साथ लाहौर से काबुल जाते समय जब नादिरा जहाँगीराबाद के स्थान पर बीमार पड़ी तो दारा स्वयं कई महीनों तक उसकी सेवा करता रहा। उसके आठ पुत्र हुए और सब नादिरा बानू बेगम से ही। नादिरा का चरित्र उच्च था और उसकी प्रतिभा महान्।

राजदर्बार में पद—मुगल साम्राज्य में मंसबदारी की प्रथा बहुत समय से चली आती थी। इसमें राजकुमारों तथा राज्य के धनी-मानी व्यक्तियों को उनके योग्यतानुसार सम्मान दिया जाता था और इस उपलक्ष्य में कुछ निश्चित सेना भी उन्हे राज्य के लिये रखनी पड़ती थी। अपने अपने 'मन्सब' के अनुसार मन्सबदारों को कुछ 'जात' और प्रायः उसके आधे 'सवार' मिलते थे। राजकुमार दारा शाहजहाँ के सबसे प्रिय पुत्र थे और अधिकांश वे उन्हीं के साथ ही रहते भी थे; सम्राट् के कहीं बाहर जाने पर भी दारा सदा उनके साथ जाते थे। शहंशाह के इतने प्रिय होने के कारण जितनी उन्नति दारा की हुई उतनी उस समय किसी की भी नहीं हुई, हालाँ कि दारा विद्या और ज्ञान में अद्वितीय होते हुए भी राजनीति और युद्ध-कौशल में उतने प्रवीण न थे। पहले-पहल ५ अक्टूबर १६३३ को, शाहजहाँ के चांद्र-जन्मदिवस के अवसर पर दारा को १२००० 'जात' और ६००० 'सवार' का मन्सब मिला—और साथ ही हिस्सार (पंजाब में) की सरकार भी। इससे दारा मुगल साम्राज्य के उत्तराधिकारी भी

नियुक्त हो गए। फिर आगामी पाँच वर्षों के बीच में २०,००० 'जात' और १०,००० 'सवार' तक के मन्सब की पदवी उन्हें दी गई। इसके पश्चात् १६४८ तक दारा के 'सवारों' में ही उन्नति होती रही और उसी वर्ष उनकी 'जात' में भी १०,००० की वृद्धि हुई। इस समय दारा का मन्सब शुजा और औरंगजेब दोनों के मन्सब से बड़ा था। और, शाहजहाँ अपने स्नेह की उमंग में उसका मन्सब बढ़ाता ही चला जाता था। बीमारी के कुछ ही वर्ष पूर्व, १६५६ मे दारा की 'जात' ५०,००० थी और 'राज-सिंहासन के लिये युद्ध' के समय उसका मन्सब बिलकुल निराला और अनुपम था—६०,००० 'जात' और ४०,००० 'सवार' !

१५ जून १६४५ को दारा इलाहाबाद का सूबेदार नियुक्त हुआ, किंतु १६५६-५७ में एक बार के अतिरिक्त वह वहाँ कभी गया नहीं, और बकी बेग उसके प्रतिनिधि के रूप में १२ वर्ष सफलता-पूर्वक वहाँ शासन करता रहा। इलाहाबाद की 'सूबेदारी' मिलने के लगभग दो वर्ष पश्चात्, मार्च १६४७ में दारा को पंजाब प्रांत की सूबेदारी मिली। आरंभ में तो एक वर्ष दारा को लाहौर में ही रहना पड़ा, क्योंकि औरंगजेब इस समय बल्ख में युद्ध कर रहा था और पंजाब से उसे आवश्यक वस्तुएँ भेजने की योजना थी। अधिकांश में यहाँ न रहते हुए भी दारा को इससे विशेष प्रेम था और यह अंत तक उसके पास रहा। इसके बाद १६४९ मे दारा को गुजरात प्रांत मिला और १६५२ में उसे वापस लेकर मुल्तान और काबुल दिए गए। पर इन सब स्थानों पर भी दारा के प्रतिनिधि ही कार्य करते रहे। उसने स्वयं कभी कोई विशेष कार्य नहीं किया।

राज्य में इतना उच्च स्थान होते हुए भी दारा को युद्ध-क्षेत्र का तनिक भी अनुभव न था। क्योंकि उसके समस्त प्रांतों में उसके प्रतिनिधि ही शासन करते थे और वह स्वयं देहली अथवा आगरे में अपने पिता के नेत्रों के समक्ष सुख से विद्योपार्जन में व्यस्त था। अपने जीवन में राजसिंहासन के युद्ध के अतिरिक्त उसने केवल तीन बार युद्ध-क्षेत्र में पैर रखा। इसमें दो बार उसे बिना लड़े ही वापस होना पड़ा और तीसरी बार बुरी तरह

असफल होकर। कंदहार का विषय अकबर के समय से चला आ रहा था—यह कभी मुगलों के हाथ में रहता और कभी इसे फारसवाले छीन लेते। १६३८ में अली मर्दान खाँ के कारण यह शाहजहाँ के अधिकार में आ गया था; और अब वह इसके दो अधीन स्थान बस्त और जमीन दावर को भी जीतना चाहता था। इसके लिये दो बार दारा भेजा गया जिसमें एक बार कुस्तुंतुनिया के सुल्तान मुराद चतुर्थ और फारस के शाह सफी के झगड़े के कारण और दूसरी बार निशापुर पहुँचने से पहले ही फारस के शाह की मृत्यु के कारण युद्ध न हो सका और दारा को बिना लड़े ही वापस आना पड़ा। १६४२ तक यही खेल होता रहा पर सहसा १६४६ में फारस ने कंदहार को पुनः जीत लिया। इस बार पहले औरंगजेब दो बार लड़ने के लिये भेजा गया पर उसके असफल रहने पर अंत मे दारा की पुनः बारी आई। जूलाई १६५२ में दारा ने जाने का निश्चय किया और अगले वर्ष एक बहुत बड़ी सुसज्जित सेना लेकर 'कामरान के बाग' में उसने अपना डेरा डाला। साथ में मिर्जा राजा जयसिंह, इज्जत खाँ, महाबत खाँ, इख्लास खाँ, बकी खाँ, चंपत राय बुंदेला आदि सरदार भी थे। पर दारा इस विषय में नितांत अशिक्षित ही था। वह अपने साथ अनेक जादूगरों, मुल्ला-मौलवियों और हाजियों को ले गया जो अपनी 'अपूर्व शक्ति' से उसकी विजय मे सहायक हों। छः महीने तक युद्ध होता रहा पर दारा की अयोग्यता और सरदारों मे परस्पर वैमनस्य के कारण मुगल सेना कंदहार का कुछ न बिगाड़ सकी। अंत में हताश हो शाहजहाँ ने दारा को लाहौर वापस बुला लिया। इसके पश्चात् सिंहासन के युद्ध के समय तक दारा युद्ध से नितांत अलग रहा और अपना समस्त समय आध्यात्मिक-ज्ञान-वृद्धि तथा राजसभा में अपने प्रभुत्व को परिपक्व करने मे ही व्यय करता रहा। अंत में कुछ समय उसने शाहजहाँ के साथ साथ राज्य किया, किंतु उसका महत्त्व केवल इतना ही है कि राजसिंहासन के लिये सगे भाइयों के मध्य लड़ा गया वह विकराल युद्ध शाहजहाँ के जीवन-काल में ही घटित हुआ।

उस समय के मुख्य पीर—दारा ने अपने जीवन में आध्यात्मिक ज्ञान, दर्शन-शास्त्र तथा विद्योपार्जन की अपेक्षा राजनीति को किंचित् मात्र

भी स्थान नहीं दिया। वह प्रायः मुस्लिम साधुओं और हिंदू-पंडितों के ही सहवास में रहता था—कहीं उपनिषदों का अनुवाद करता और कहीं मुल्लाओं से दार्शनिक समस्याओं पर वाद-विवाद। उस समय के सूफी मुल्लाओं के सहयोग में दारा का यथेष्ट समय व्यतीत हुआ। मुल्ला शाह मुहम्मद बदख्शीं, अर्कस के रहनेवाले काजी मुल्ला अब्द मुहम्मद के पुत्र और लाहौर के प्रसिद्ध सूफी मियाँ मीर के शिष्य थे। इन्होंने दारा को सबसे अधिक प्रभावित किया और कुछ समय बाद वह इनका शिष्य भी हो गया था। 'हसनात-उल-आरिफीन' शीर्षक अपनी पुस्तक में दारा ने मुल्ला शाह के ज्ञान की अच्छी प्रशंसा की है। शाहजहाँ के साथ काश्मीर जाते समय मियाँ मीर से भी लाहौर में दारा का परिचय हुआ था पर वे बेचारे अधिक समय तक जीवित न रह सके और परिचय के कुछ ही समय अनंतर लाहौर में उनकी मृत्यु हो गई। इसके अतिरिक्त इलाहाबाद के शेख मुहीब्बुल्लाह भी एक योग्य और प्रसिद्ध सूफी थे। इलाहाबाद के सूबेदार नियुक्त होने के पश्चात् ही दारा ने इनको एक पत्र लिखा कि इलाहाबाद की सूबेदारी उन्हें इसी कारण पसंद है कि वहाँ शेख साहब निवास करते हैं। इस पत्र के साथ दारा ने शेख साहब से सूफी मत पर १६ प्रश्न भी किए जिनका उसे बहुत ही संतोषजनक उत्तर प्राप्त हुआ। औरंगजेब के समय में शेर खाँ लोदी की लिखी हुई 'मीरत उल खियाल' नामक पुस्तक में इसका अच्छा वर्णन है।

'फय्याजउल कवानीन' नामक एक पत्रों के संग्रह से पता चलता है कि शेख दिलरुबा नाम के किसी साधु से भी दारा का अच्छा परिचय था और शेख मुहसिन फानी तथा सरमद को भी दारा मानता था। इसमें सरमद को लोग यहूदी बतलाते हैं जिसका अपना नाम ज्ञात नहीं पर मुसलमान होने पर वह मुहम्मद सईद के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। इन मुख्य मुसलमान मुल्लाओं के अतिरिक्त दारा अनेक हिंदू पंडितों तथा महात्माओं का भी सम्मान करता था। महात्माओं में बाबा लाल का दारा सबसे अधिक भक्त था। इनका जन्म मालवा में, जहाँगीर के शासन-काल में, एक क्षत्रिय कुल में हुआ था। पहले इन्होंने हठयोग के सिद्धांतों पर अपना साधु-

जीवन आरंभ किया पर बाद में वे चेतन स्वामी के शिष्य हो गए। बाबा लाल के विषय में अनेक अलौकिक बातें प्रसिद्ध हैं जो अधिकतर सत्य मानी जाती हैं। चेतन स्वामी की मृत्यु के पश्चात् बाबा लाल सरहिंद के निकट ध्यानपुर नामक स्थान पर रहते थे। इन्होंने प्रायः अपना मत वेदांत तथा सूफी मत पर ही निर्धारित किया था और दारा इनको बहुत मानता था। १६५३ में लाहौर के राय चंद्रभान ब्राह्मण के महल में दारा और बाबा लाल के मध्य एक भावपूर्ण धार्मिक वादविवाद हुआ। इसे राय जादवदास लिखते रहे और फिर, दारा के मीरमुंशी राय चंद्रभान ने 'नादिर उन निकात' अथवा 'मुकालिम-ए-बाबा लाल वा दारा शुकोह' नामक पुस्तक में इसका फारसी अनुवाद किया। यह एक सुंदर पुस्तक है और इसका विषय भी उच्च है।

आध्यात्मिक विचार—इतने मुल्लाओं और महात्माओं के मध्य रह-कर यह निश्चय था कि दारा का आध्यात्मिक ज्ञान उच्च शिखर पर पहुँच जाता। उसकी बहन जहानारा ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के 'मुरीदा' मत को मानती थी, किंतु स्वयं दारा सूफी मत के अब्दुल कादिर गिलानी के 'कादिरीया' मत को। इस मत के अनुयायियों में मियाँ मीर और मुल्ला शाह बदख्शी प्रसिद्ध प्रवर्तक हुए हैं। एक बार, विवाह के एक वर्ष पश्चात्, शाहजहाँ के साथ लाहौर जाते समय अपनी पहली पुत्री का स्वर्गवास हो जाने पर जब दारा बहुत दुखी हुआ तो मियाँ मीर ने ही अपने उपदेशों से उसे सांत्वना दी थी। इसी समय से 'कादिरीया' मत मे उसका विश्वास बढ़ा और फिर मुल्ला शाह के शिष्य होने से उसने इसकी अनुपम वृद्धि की।

आरंभ में दारा मुहम्मद में विश्वास करनेवाला एक साधारण मुसलमान था, पर बीच में सूफी मत के आदर्श ग्रंथ तथा वेदांत और योग के अध्ययन से उसने अपने आध्यात्मिक सिद्धांत उन्हीं के आधार पर निर्मित किए। 'रिसालाए हकनुमा' मे यदि हम दारा के कथन पर विश्वास करें तो पैगंबर मुहम्मद हारा की गुफा में 'प्राणायाम' करते थे अथवा हिंदू योगियों की भाँति 'चक्र'—'ज्योति' देखते थे और अनाहत ध्वनि सुनते थे। दारा ही इन विचारों का प्रवर्तक न था, पर उसके पूर्व सूफी मत के अन्य अनुयायी भी इस्लाम में इनका प्रवेश करा चुके थे।

दारा संसार में संन्यास और शारीरिक कष्ट के विरुद्ध था। उसके अनुसार यह सब व्यर्थ और निरर्थक था। 'तौहीद' ही उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य रहा और वह इसी के सिद्धांतों का आजीवन पालन करता रहा। 'तौहीद' (अद्वैतवाद) जगत् का आध्यात्मिक ज्ञानपुरस्सर चेतन-विषयक पूर्ण ज्ञान है। सूफी मत के अनुसार इस 'एकता' (इत्तिहाद) की तीन स्थितियाँ होती हैं। पहली स्थिति में आत्मा की पृथक् सत्ता का नाश हो जाता है और वास्तविक पृथक्त्व के बिना ऐक्य होता है, यद्यपि पृथक्त्व की उपस्थिति उसी प्रकार मानी जाती है। इसमें मनुष्य अनुभव करता है कि 'सब कुछ वह (ईश्वर) है—मैं कुछ भी नहीं'। इसके पश्चात् दूसरी स्थिति है 'सकरुल जाम' अर्थात् 'ऐक्य के मद' की। इसमें 'मैं' और 'वह' की पृथक्ता बिलकुल नष्ट हो जाती है और 'आत्मा' तथा 'ब्रह्म' एक दिखाई देते हैं—मनुष्य अनुभव करता है कि "मैं मैं हूँ।" इस स्थिति मे "मैं मैं हूँ" का अनुभव करते हुए मनुष्य ईश्वर की उपासना करने मे स्वयं अपनी ही उपासना करता है—इसे सूफी मतानुयायी 'खुदपरस्ती' कहते हैं। दारा का इसमें दृढ़ विश्वास था और वह स्वयं भी एक सच्चा 'खुदपरस्त' था। शाह दिलरुबा को एक बार पत्र में उसने लिखा—"मैं यज्ञोपवीत का पहिननेवाला, एक मूर्त्ति-उपासक हो गया हूँ!—नहीं, मैं स्वयं अपनी ही उपासना करनेवाला (खुदपरस्त) हो गया हूँ और अग्नि-उपासकों के मंदिर का एक पुजारी।" इसके बाद 'इत्तिहाद' की तीसरी स्थिति होती है—पर कुछ लोगों का विचार है कि 'शरियत' में विश्वास न करने के कारण दारा उस स्थिति तक भली भाँति न पहुँच सका। पर आगे चलकर उसके ईश्वरीय ज्ञान की कुंजी 'बहुतायत में एकता' ('वही-दिय्या') का अनुभव करना अवश्य हो गया था। इसमें अनुभव होता है कि "मैं वह (ब्रह्म) हूँ" और समस्त जगत् ब्रह्म का ही रूप दिखाई पड़ता है। दारा इस 'वहीदिय्या' के सिद्धांतों पर विश्वास करता था, इसमें संशय नहीं। और उसको ये विचार उपनिषद् से ही प्राप्त हुए थे, यह भी सत्य है। हमारे उपनिषद् के वेदांत-दर्शन का 'सोऽहम्' और 'वहीदिय्या' बिलकुल एक ही सिद्धांत और विश्वास पर स्थित हैं।

साहित्य-वृद्धि—दारा के आध्यात्मिक तथा दार्शनिक विचार नवीन न थे। आर्य ऋषि संस्कृत ग्रंथों में उनका पहले ही विवेचन कर चुके थे। इसलिये जब संस्कृत पुस्तकों में अपना विषय उपलब्ध था तो दारा का संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन और उनका सम्मान करना भी स्वाभाविक था। 'तौहीद' के सिद्धांतों के अध्ययन के संबंध में दारा ने मुख्य संस्कृत ग्रंथों का मनन करने के उपरांत उन विचारों को प्रत्येक मुसलमान तक पहुँचाने की दृष्टि से अनेक अनुवाद किए। हालाँ कि इसके पूर्व ११वीं शताब्दि में अलबिरूनी और १६वीं में अबुलफज्ल ने हिंदू दर्शन के बृहत् तथा गंभीर विषय को फारसी में अनूदित किया था, और अकबर ने भी महाभारत, रामायण तथा अथर्ववेद का फारसी अनुवाद कराया था, पर दारा का इस दिशा में किया हुआ कार्य इन सबसे श्रेष्ठ था। उसकी योजना महान् थी और उसका आदर्श विराट् था।

संस्कृताध्ययन के अतिरिक्त दारा ने सूफी मत के प्रधान ग्रंथों का भी सुंदर अध्ययन किया और उसके पश्चात् उसने अपने धार्मिक विचारों पर कई पुस्तकें भी लिखीं। उसकी पुस्तकें शाहजहाँ के समय की साहित्योन्नति की सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु हैं। बिना दारा द्वारा निर्मित साहित्य के शाहजहाँ के समय में केवल दो-एक इमारतों के अतिरिक्त कुछ भी न होता।

दारा ने फारसी में निम्नलिखित पुस्तकें लिखीं :—

१—सफीनत-उल-औलिया :—यह पुस्तक १६३९ मे लिखी गई थी और इसमें मुस्लिम साधुओं की जीवनियों का एक अनुपम व भावपूर्ण संग्रह है। [इसके २१८ पृष्ठों में ४११ साधु-संतों का वर्णन है। यह पुस्तक सन् १८८४ में लखनऊ में नवलकिशोर प्रेस में छपी थी।—सं०।]

२—सकीनत-उल-औलिया :—यह पुस्तक १६४२ में लिखी गई थी और इसमें मियाँ मीर तथा कादिरीया मत के अन्य मुल्लाओं का संक्षिप्त जीवन-चरित्र और उनके विचार हैं।

३—रिसालाए-हकनुमा :—लोग कहते हैं कि दारा ने इस पुस्तक को किसी दिव्य शक्ति से प्रेरित हो अगस्त १६४५ और जनवरी १६४७ के

मध्य लिखा था। इसमें सूफी मत के प्रधान सिद्धांतों और नियमों का सुंदर विवेचन है। [नवलकिशोर प्रेस से सन् १९१० में प्रकाशित। पाणिनि आफिस प्रयाग से इसका अँग्रेजी अनुवाद छप चुका है। —सं०।]

४—मजमआ-उल-बहरैन् :—यह पुस्तक १६५० और १६५६ के बीच कभी लिखी गई थी। इसमें इस्लाम तथा हिंदू धर्म का बहुत ही सुंदर तुलनात्मक विवेचन है। दारा इस पुस्तक में ऐसे ईश्वर को देखता है जिसमें हिंदू और मुसलमान दोनों ही मिलते हैं। वास्तव में इस दिशा की ओर दारा का यह पहला गंभीर और मौलिक प्रयास था। [यह पुस्तक जिसका शब्दार्थ है 'दो सिंधुओं का सम्मिलन' दारा की उत्कृष्ट समन्वय-प्रधान कृति है। इसका एक अत्युत्तम संस्करण फारसी मूल और अँगरेजी अनुवाद, टिप्पणी तथा विस्तृत भूमिका के साथ जिसमें दारा के जीवनचरित और साहित्यिक कार्य का अच्छा विवेचन है, एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ते से १९२९ में प्रकाशित हुआ है। —सं०]

५—सिर्रे-ए-अकबर अथवा सिर्र-उल-असरार—यह ५२ उपनिषदों का संस्कृत से फारसी में सुंदर और भावपूर्ण अनुवाद है। २८ जून १६५७ को यह तैयार हुआ था और इसमें बनारस के अनेक योग्य तथा विद्वान पंडितों की भी सहायता ली गई थी। यह दारा की सबसे श्रेष्ठ और मूल्यवान् पुस्तक है[१]।

१—दारा के फारसी अनुवाद के द्वारा ही उपनिषदों का परिचय पहले पहल पश्चिमी जगत् को मिला। जंद अवस्ता का पश्चिमी संसार को परिचय देनेवाले फ्रांसीसी विद्वान आँकती दुपरों ने फारसी उपनिषदों के आधार से उपनिषदों का अनुवाद पहले फ्रांसीसी भाषा में, जो अप्रकाशित रहा, और फिर लैटिन भाषा में किया। दारा की मूल पुस्तक का एक संस्करण जयपुर से तीन भागों में छपा था जो अब अप्राप्य है। इसके भी एक प्रामाणिक और सुसंपादित संस्करण के प्रकाशित होने की आवश्यकता है। इस ग्रंथ की एक मूल फारसी में हस्तलिखित प्रति आर्य समाज लखनऊ के पुस्तकालय में है। विशेष देखिए पत्रिका के वर्ष ४७, अंक २ में श्री शालिग्राम श्रीवास्तव का 'दारा शिकोह के फारसी उपनिषद्' शीर्षक लेख।—सं०।

इन पाँच पुस्तकों के अतिरिक्त दारा ने और कोई बड़ी पुस्तक नहीं लिखी—दो-एक छोटी पुस्तकों का निर्माण अवश्य किया। इनमें एक तो हसनात-उल-आरिफीन है जो १६५२ में लिखी गई थी और जिसमें दारा ने मुसलमान सूफियों की सूक्तियों का संग्रह किया है। [इस पुस्तक का उर्दू अनुवाद लीथो में लाहौर से छप चुका है।—सं०] दूसरी तरीकात उल हकीकत है जिसमें उन्होंने विश्व-देवतावाद की सुंदर व्याख्या की है।

इसके अतिरिक्त आरंभ में दारा ने भगवद्गीता का अनुवाद किया था [जिसकी एक प्रति इंडिया आफिस लाइब्रेरी में है।—सं०] और संन्यासी कृष्ण मिश्र के लिखे हुए एक दार्शनिक नाटक, 'प्रबोधचंद्रोदय' का फारसी अनुवाद अपने निरीक्षण में कराया था। 'प्रबोधचंद्रोदय' को दारा के मुंशी बनवालीदास ने दारा के प्रसिद्ध ज्योतिषी भवानीदास की सहायता से—हिंदी में स्वामी नंददास के किए हुए अनुवाद से—फारसी में अनूदित किया था। इसका फारसी नाम 'गुजारे हल' है और यह संसार के माया-मोह से आत्मा की मुक्ति के विषय में एक सुंदर रूपक है। १६५६ में दारा ने योगवाशिष्ठ रामायण का फारसी अनुवाद भी 'तर्जुमाए जोगबाशिष्ठ' के नाम से कराया। संभवतः पंडितों की सहायता से शेख सूफी ने इसे अनूदित किया था पर यह निश्चय है कि इस पुस्तक का वक्तव्य दारा ने स्वयं लिखा था, जिसमें वह बताता है कि 'तर्जुमाए जोगवशिष्ठ' को पढ़ने के बाद उसने एक स्वप्न में श्रीरामचंद्र और महर्षि वशिष्ठ को देखा। वशिष्ठ ने बड़े स्नेह से दारा की पीठ पर हाथ रखकर श्रीराम से कहा—"यह ज्ञान का एक सच्चा ढूँढ़नेवाला है और सत्य की खोज में तुम्हारा ही भाई है! तुम इसका आलिंगन करो।" इसके उपरांत राम ने दारा का आलिंगन किया और वशिष्ठ द्वारा दिया हुआ कुछ मिष्टान्न भी उसे खाने को दिया। इस स्वप्न के पश्चात्, दारा लिखता है कि योगवाशिष्ठ के अनुवाद के लिये उसकी इच्छा और भी बलवती हो उठी और उसने हिंदुस्तान के पंडितों की सहायता से इसे शीघ्र ही पूरा कराया।

राजसिंहासन के लिये युद्ध—कंदहार के घेरे से राजसिंहासन के युद्ध तक दारा के जीवन का सबसे अधिक सुखमय और चमत्कारपूर्ण

समय था। इस काल में दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा साहित्यिक सफलता के साथ साथ राजनीति में भी दारा का बहुत अधिक हाथ रहा। शाहजहाँ के साथ साथ वह राजकार्य करता था और स्वयं शाहजहाँ भी बिना उसकी सम्मति के कार्य न करता था। उसका इस समय इतना अधिकार था कि शाहजहाँ द्वारा दी गई मृत्युदंड की आज्ञा भी उसने कई बार क्षमा करा दी। न जाने कितने राजसभासद दारा के कारण इस समय भाग्य के प्रिय बने हुए अपने विधि की सराहना कर रहे थे। और, उसके भी व्यवहार में हिंदू और मुस्लिम का भेद-भाव लेशमात्र भी न था। अनेक राजपूतों को उसने शरण दी और कई बार हिंदू राजाओं तथा अधिकारियों को उसने सम्राट् की क्रोधाग्नि से बचाया। पर अंत में दारा के इसी 'अधिकार' ने भड़ककर सहसा साम्राज्य में एक सनसनी मचा दी।

ऐसे तो साम्राज्य के लिये युद्ध के अनेक कारण थे और प्रायः लोग कहते हैं कि इसका मुख्य कारण दारा के प्रति शाहजहाँ का पक्षपात था। किंतु इस युद्ध के केवल दो प्रधान कारण थे। एक तो दारा के प्रति औरंगजेब की शत्रुता जो कई कारणों[1] से पहले ही आरंभ हो चुकी थी और दूसरे संसार की साधारण कूट-नीति, राजनीति और युद्ध-कौशल में दारा की अनभिज्ञता तथा औरंगजेब की पटुता। और फिर इन दो कारणों के अतिरिक्त, ६ सितंबर १६५७ को शाहजहाँ का अकस्मात् बीमार पड़ना और इसके बाद उसकी मृत्यु का असत्य समाचार फैलना इस अनर्थमय युद्ध का सबसे प्रबल दैविक कारण था। एक सप्ताह तक सम्राट् को दारा तथा कुछ अत्यंत विश्वस्त सभासदों के अतिरिक्त कोई देख भी न सका। इधर औरंगजेब की 'ख्वाहिशें' रुकनेवाली न थीं। अवसर अच्छा देखकर अपने दो मूर्ख भाइयों को उसने अपने साथ मिला लिया। इनमें दारा का तो वह स्पष्ट शत्रु था पर शुजा को केवल मुराद के समक्ष ही बुरा कहता था और स्वयं शराबी मुराद को वह मन ही मन मूर्ख बना रहा था।

१—देखिए कानूनगो की 'दारा शुकोह'—पृष्ठ २०५-२११।

दिसंबर १६५७ में शाहजहाँ की बीमारी का समाचार मृत्यु का रूप धारण कर शुजा (बंगाल के सूबेदार) के पास भी पहुँचा। वह तो औरंगजेब की शिक्षा से ऐसे अवसर की प्रतीक्षा ही कर रहा था। इस नितांत मिथ्या और कल्पित समाचार के आधार पर ही उसने राजमहल नामक स्थान पर अपना राज्याभिषेक कर बिहार में अपनी फौज के प्रवेश करने की आज्ञा दे दी। इस विद्रोह के झंडे से दारा को बहुत चिंता हुई और उसने शाहजहाँ को किसी प्रकार सहमत कर अपने पुत्र सुलेमान शुकोह तथा मिर्जा राजा जयसिंह की अध्यक्षता में शुजा के विरुद्ध एक सेना भेजी। पर इसी समय उधर औरंगजेब और मुराद की संयुक्त सेनाएँ उत्तर की ओर बढ़ने लगीं। इससे दारा और भी कठिनाई में पड़ गया। एक ओर शुजा से युद्ध हो ही रहा था इधर औरंगजेब ने भी सिर उठाना आरंभ किया, और शाहजहाँ एक तो बीमार, दूसरे संतान-स्नेह-वश वह युद्ध की आज्ञा ही न दे रहा था। उसका विश्वास था कि वह डाँट-फटकार से, स्नेह और वात्सल्य से अपने नासमझ बेटों को ठीक कर लेगा। खैर, शुजा से तो किसी न किसी भाँति ७ मई १६५८ को संधि हो गई पर औरंगजेब और मुराद को नर्मदा पर ही रोकने के लिये दिसंबर १६५७ के अंतिम सप्ताह में दारा को महाराजा जसवंतसिंह तथा कासिम खाँ को भेजना पड़ा। पर ये दोनों वीर भी औरंगजेब ऐसे चतुर सेनानायक का कुछ न बिगाड़ सके और उज्जैन से १४ मील दूर धरमत नामक स्थान पर १५ अप्रैल १६५८ को बुरी तरह हार कर इन्हें भागना पड़ा। २५ अप्रैल को यह अनिष्टकर समाचार दारा के पास पहुँचा। वह इस समय बलोचपुरा होता हुआ सम्राट् के साथ आगरे से दिल्ली जा रहा था पर इसे सुनते ही उसने तुरंत आगरे वापस आकर कटिबद्ध हो युद्ध की तैयारियाँ आरंभ कर दीं। शाहजहाँ अब भी इसी विचार में था कि वह अपने राजनैतिक आदेश से औरंगजेब को ठीक राह पर ले आएगा पर यह उसका भ्रम था और जब औरंगजेब धौलपुर तक बढ़ता ही चला आया तो उसे राज्य की समस्त शक्ति दारा के हाथों सौंप कर उसी की विजय की प्रार्थना करनी पड़ी। पर दारा की सर्व अपनी फौज अभी सुलेमान के साथ बिहार में

ही थी और वह उसके वापस आने तक (जिसकी उसने शीघ्रातिशीघ्र आज्ञा दी थी) औरंगजेब को चंबल पर ही रोकना चाहता था। इस विचार से दारा स्वयं एक बड़ी सेना ले धौलपुर में उपस्थित हुआ; किंतु चतुर औरंगजेब वहाँ युद्ध न कर धौलपुर से ४० मील पूर्व में जाकर दारा की सेना के पीछे से, आगे बढ़ गया। इससे दारा को पुनः आगरे की ओर भागना पड़ा। और वहाँ से ८ मील दूर सामूगढ़ नामक स्थान पर औरंगजेब का सामना करने के लिये उसने अपना डेरा डाला। दारा के पास इस समय ६०,००० फौज थी और औरंगजेब तथा मुराद की कुल ५०,०००, पर दारा की सेना अधिक चतुर न थी और उसे अपने सेनानायकों पर अधिक विश्वास न था। २९ मई १६५८ को युद्ध आरंभ हुआ। दारा की तरफ राव सतरसाल हाडा, बरकंदाज खाँ (जाफर), कुँवर रामसिंह कछवाह आदि योद्धा थे।...पर उसका भाग्य-चक्र उसके सर्वथा विपक्ष था। युद्ध में वह किसी प्रकार भी जीत न सका, रुस्तम खाँ और सतरसाल मारे गए और स्वयं दारा को प्राण-रक्षा के लिये भागना पड़ा।

समोगर की लड़ाई—जिसे कुछ लोग कहते हैं कि आगरे से २० मील दूर सामूगढ़ में लड़ी गई—'अकबर-काल' की समाप्ति का एक निश्चित कदम था। इसने दारा की जीवन-नौका को भी अंत तक भटकने के लिये डाल दिया। फिर संसार मे उसका कोई सहायक न रहा और वह ऐसे मार्मिक अंत को प्राप्त हुई जिसकी किसी ने कल्पना भी न की थी।

समोगर से भागने के बाद दारा किसी भाँति आगरे पहुँचा और वहाँ से कुछ धन तथा अपनी स्त्री और पुत्रों को लेकर दिल्ली चल दिया। हालाँकि दारा के पास इस समय लगभग ५,००० आदमी और राज्य का समस्त अधिकार था पर विधि को कुछ और ही स्वीकार था। सुलेमान शुकोह अभी तक वापस न आ पाया था और दारा दिल्ली में सेना का संगठन कर ही रहा था कि उधर औरंगजेब की केवल पाँच ही दिन की नाकेबंदी में ८ जून १६५८ को आगरे का पतन हो गया। इससे चार ही दिन बाद दारा को पुनः भागना पड़ा और १०,००० सेना, यथेष्ट धन तथा अपने स्त्री और

पुत्रों को लेकर वह लाहौर की ओर चल पड़ा। वहाँ इसके प्रतिनिधि के रूप मे इज्जत खाँ शासन कर रहा था। समस्त अधिकार अपने हाथों में लेकर दारा ने फिर एक बार एक विशाल सेना इकट्ठी करने का आयोजन किया और सुलेमान शुकोह को हिमालय की तराई से होकर लाहौर आने की आज्ञा भी दे दी। पर यह उसकी भूल थी—अन्यथा इस असंभव कार्य के अतिरिक्त सुलेमान पूर्व में ही शुजा से मिलकर औरंगजेब का विरोध कर सकता था। बेचारा सुलेमान लाहौर पहुँचने में असफल रहा और हिमालय की तराई तथा काश्मीर में काफी समय तक भटकते रहने के बाद २ जनवरी १६६१ को कैद कर सलीमगढ़ के किले में भेज दिया गया और फिर लगभग एक वर्ष पश्चात् औरंगजेब ने उसे मरवा डाला। इधर सतलज पर ही औरंगजेब को रोकने के लिये दारा ने तलवान नामक स्थान पर दाऊद खाँ को भेजा। किंतु इस समय पुनः औरंगजेब ने वही चाल चली—दाऊद खाँ से युद्ध न कर उसकी सेना ने ५ अगस्त को रूपर नामक स्थान से सतलज को पार कर लिया। दारा की फौज को अब तलवान भी खाली करना पड़ा। सुल्तानपुर नामक स्थान पर उसकी पराजय हुई। इस घटना ने दारा की समस्त योजना व्यर्थ कर दी, क्योंकि वह स्वयं अपने को लाहौर मे सुरक्षित रख कर, पूर्व मे शुजा, राजपूताने मे जसवंतसिंह तथा दक्षिण में गोलकुंडा आदि की सहायता से औरंगजेब को परास्त करना चाहता था। सुल्तानपुर की पराजय के बाद दारा की फौज गोबिंद-वाल की ओर भागी। यह सुनकर १४ अगस्त को रूपर में औरंगजेब स्वयं उपस्थित हुआ और १८ को गढ़शंकर नामक स्थान पर मिर्जा राजा जयसिंह तथा समोगर के युद्ध में दारा को धोखा देनेवाले खलीलुल्लाह खाँ को भेजने का प्रबंध किया। गढ़शंकर रूपर से ३२ मील पश्चिम में था और रूपर तथा गढ़शंकर दोनों स्थानों पर औरंगजेब की सेना होने से लाहौर में दारा सुरक्षित न रहा। इसलिये ५ सितंबर को एक बार फिर १४,००० आदमियों के साथ वह भक्खर (सिंध) की ओर चल दिया। दारा के लिये अब सिवा भागने के और कोई उपाय न था। अभी तक तो कुछ आदमी उसका साथ भी दे रहे थे पर भक्खर पहुँचने तक

हताश और थके हुए दारा के सिपाही घटते गए। भक्खर के किले तक पहुँचने पर उसके पास केवल उसकी आधी ही सेना थी। वहाँ अभी वह अच्छी तरह पहुँच भी न पाया था कि २५ सितंबर को उसका पीछा करता हुआ औरंगजेब भी मुल्तान आ पहुँचा। दारा अपने बचे हुए आदमियों को बसंत तथा अब्दुर्रज्जाक की अध्यक्षता मे भक्खर के किले में छोड़कर सिंध के नीचे सक्कर के ५० मील दक्षिण तक बढ़ता चला गया। यहाँ से फारस जाने का मार्ग था और दारा ने फारस के शाह अब्बास द्वितीय से अपने आने की चर्चा भी की। पर नादिरा बानू की अनिच्छा तथा शाह के अनिश्चित उत्तर से उसने अपना विचार बदल दिया। भाग्यवश इसी समय पूर्व में शुजा ने औरंगजेब के विद्रोह का झंडा खड़ा किया जिससे उसे अपने सेनाधिपति सफशी खाँ तथा शेख मीर के साथ मुल्तान छोड़कर उत्तर की ओर रवाना होना पड़ा। इससे और भी दारा ने फारस जाने का विचार त्याग दिया और थत्ता होता हुआ कच की खाड़ी की ओर चल पड़ा। वहाँ के राव ने दारा की सहायता का वचन दिया और अपनी पुत्री का विवाह भी सिपिर शुकोह (दारा के दूसरे पुत्र) के साथ कर दिया। यहाँ से दारा को दुर्भाग्य और निराशा के काले बादलों मे भी आशा की धुँधली रेखा दृष्टिगोचर हुई। कच की खाड़ी के बाद नवानगर के जाम से सम्मानित किए जाने पर दारा गुजरात पहुँचा जहाँ का गवर्नर शाह नवाज खाँ औरंगजेब के पहले ही से विरुद्ध था। उसने दारा को बादशाह माना और गुजरात का समस्त प्रांत उसके अधिकार मे दे दिया। दारा ने अब अहमदाबाद नामक स्थान पर अपना दरबार किया और नित्य प्रातः ही 'झरोखाए दर्शन' देने लगा। पर उसने शाहजहाँ के जीवित रहते हुए अपना राज्याभिषेक न किया।

शाहनवाज की सहायता से दारा ने २१,००० फौज इकट्ठा कर ली और औरंगजेब के प्रतिनिधि, सादिक मुहम्मद खाँ से सूरत का नगर भी छीन लिया। इस समय यदि दारा दक्षिण की रियासतों को मिलाकर औरंगजेब का सामना करता तो औरंगजेब अवश्य ही एक बहुत बड़ी कठिनाई में पड़ जाता। गोलकुंडा और बीजापुर दोनों आरंभ से अंत तक

औरंगजेब के शत्रु रहे और दारा ने अनेक बार उनकी सहायता की थी, सम्राट् से प्रार्थना कर उनके हित की चिंता की थी। अतः वे भी दारा के बड़े कृतज्ञ थे और उसका यह प्रयास सफल होता इसमें अधिक संशय नहीं था। पर होना कुछ और ही था। इसी समय यह असत्य समाचार फैला कि खजुआ के युद्ध में शुजा ने औरंगजेब को परास्त कर दिया है। हालाँ कि तथ्य इसमें केवल इतना ही था कि औरंगजेब की निर्दय कूटनीति तथा उसका अत्याचार देखकर उसके पुत्र मुहम्मद सुल्तान और महाराजा जसवंतसिंह उसके विरुद्ध हो गए थे—इसमें सुल्तान तो शुजा से मिल गया और जसवंतसिंह औरंगजेब के खेमों को लूटता हुआ जोधपुर लौट आया। पर औरों की भाँति दारा ने भी औरंगजेब की पराजय पर विश्वास कर लिया। अब उसने दक्षिण का विचार छोड़ दिया और अहमदाबाद को सैयद अहमद बुखारी के अधिकार में देकर १४ फरवरी १६५९ को जोधपुर की ओर प्रस्थान किया। पहले तो जसवंतसिंह का दारा का पक्ष लेने का विचार था पर चतुर औरंगजेब ने मिर्जा राजा द्वारा ऐसी चाल चली कि जसवंतसिंह, एक राजपुत्र होते हुए भी, दारा और शाहजहाँ के असंख्य उपकारों को भूलकर उसका शत्रु हो गया। अजमेर का महाराणा राजसिंह—जिसको तीन वर्ष पूर्व दारा ने शाहजहाँ की क्रोधाग्नि से बचाया था—अपने को क्षत्रिय कहनेवाला राजपूत-शिरोमणि भी दारा की सहायता करने पर सहमत न हुआ। दारा ने आज तक हिंदू-जाति के लिये जो कुछ किया था, वह सब व्यर्थ हो गया। न जाने कितनी निंदा तथा लांछन सहने पर भी उसने इन वीर आर्यपुत्रों का भला करने से मुख न मोड़ा था पर आज उनमें से कोई भी ऐसा साहसी और स्वामिभक्त न निकला जो इस महान् पुरुष की कठिनाई मे तनिक भी सहायता कर सकता। महाराजा जसवंतसिंह के पास—शाहजहाँ के साथ मयूरसिंहासन पर बैठनेवाले, भारतवर्ष के भावी सम्राट् और हिंदुओं के सदैव के शुभचिंतक दारा ने—कई बार प्रार्थनाएँ भेजीं, विनती की पर वह राजा कुछ चाँदी के टुकड़ों और औरंगजेब की मीठी नजर की लालच में, किसी प्रकार भी दारा, अपने स्वामी और रक्षक के दुर्भाग्य में खड़ा होने को सहमत न हुआ।

विधि का विधान ! जो कभी दारा के समक्ष घुटने टेका करते थे, उनके पास आज दारा 'मिन्नतें'[1] भेज रहा था, महाराणा राजसिंह के पास तो दारा ने अपनी प्रार्थना के साथ अपने पुत्र सिपिर तक को भेजा था। पर सब व्यर्थ रहा। इसके पूर्व शुजा से लड़ते समय मुँगेर में मिर्ज़ा राजा जयसिंह ने भी दारा को धोखा दिया था। दिल्ली से लाहौर भाग आने पर जम्मू के राजा राजरूप ने दारा के लिये फौज इकट्ठा करने को धन की प्रार्थना की और कई लाख रुपए मिलने तथा नादिरा बानू के अपना दूध[1] देने पर भी वह औरंगजेब से जा मिला था। दादर किले के स्वयं मलिक जीवन ने, जिसे शाहजहाँ के किसी कारण-वश मृत्युदंड देने पर दारा ने क्षमा करा दिया था, दारा को कैद कर औरंगजेब के सुपुर्द कर दिया।

राजपूताने में हताश होने पर भी दारा को औरंगजेब से लड़ना पड़ा क्योंकि शत्रु देवराय नामक स्थान तक आ चुका था और दारा का भागना अब असंभव था। शाहनवाज, फिरूज मेवाती, मुहम्मद शरीफ, किलिच खाँ तथा सिपिर शुकोह के साथ देवराय मे १२ से १४ मार्च १६५९ तक दारा ने औरंगजेब के विरुद्ध अंतिम घमासान युद्ध किया। पर सदा की भाँति अंत वही हुआ जो उसके दुर्भाग्य में लिखा था—वह औरंगजेब का कुछ भी न बिगाड़ सका और स्वयं उसे १४ मार्च को ८ बजे रात्रि में गुजरात की ओर भागना पड़ा। अब उसका अंत निकट आ गया था। मिर्ज़ा राजा, जसवंत तथा बहादुर खाँ औरंगजेब के आज्ञानुसार दारा को मृतक अथवा जीवित गिरफ्तार करने के लिये उसका पीछा कर रहे थे। और यहाँ गुजरात, काठियावाड़, कच्छ की खाड़ी आदि समस्त स्थानों पर जयसिंह ने 'भय और आशा' के पत्र भेज भेजकर दारा का सारा तख्ता ही उलट दिया था। अहमदाबाद में सैय्यद अहमद बुखारी गिरफ्तार हो चुका था और कच्छ के राव आदि ने भयवश शरण देना अस्वीकार कर दिया। वे बेचारी छोटी रियासतें औरंगजेब ऐसी विशाल शक्ति का कर ही क्या

१—यह उस समय का साधारण विश्वास था कि किसी पुरुष के एक स्त्री के दूध पीने से वह उसके पुत्र के समान हो जाता था।

सकती थीं ! फ्रेंच डाक्टर बर्नियर, जो इस समय भाग्यवश दारा की प्रार्थना पर चिकित्सक के रूप में, उसके साथ था बड़े ही मार्मिक शब्दों में दारा के दुर्भाग्य का वर्णन करता है। बेचारा मुगल खानदान का शाही राजकुमार राजपूताना, अहमदाबाद, काठियावाड़, कच, कड़ी आदि के रेगिस्तान, जंगल और दलदलों को पार करता हुआ अपनी और अपनी स्त्री तथा बच्चों की रक्षा के लिये भागा जा रहा था। धूप, पानी और आँधी का विचार न करती हुई दारा के हरम की स्त्रियाँ टूटी गाड़ियों के पहियों में पर्दा बाँध बाँधकर रात्रि व्यतीत करती थीं। भाग्य का ठुकराया दारा किसी भाँति भक्खर पहुँचा, पर वहाँ के किले को खलीलुल्लाह खाँ मुल्तान से आकर घेरे पड़ा था। बेचारे हताश दारा को एक बार फिर जंगलों से होकर केवल पाँच सौ सिपाहियों के साथ सिंध के उस पार भागना पड़ा। वहाँ बलोचियों का अधिकार था जिनमें से चँदी आदि दो-एक जातियों ने दारा को लूट भी लिया[1]। इसके बाद वह फारस जाना चाहता था पर नादिरा बानू की बीमारी और हरम की अन्य स्त्रियों की अनिच्छा के कारण उसे फिर रुकना पड़ा। इस बार उसने यहाँ से अपनी अंतिम यात्रा की। दर्रा बोलन से ९ मील दूर दादर के किले का अध्यक्ष मलिक जीवन था जिसे दारा ने प्राण-दंड से मुक्त कराया था। इस विश्वास में कि वह पठान कभी दारा के प्रति कृतघ्नता न करेगा, उसने दादर की ओर प्रस्थान किया। पर दादर की सीमा से एक ही कोस पर अभी दारा पहुँच पाया कि ६ जून १६५९ को नादिरा बानू की मृत्यु हो गई। इससे दारा को इतना असीम दुःख हुआ कि अब से उसने अपने को बचाने का कोई उपाय तक न किया, मानो उसका सारा साहस, सारा उत्साह, अपनी नादिरा के साथ ही बिदा हो गया हो! वह उसके जीवन में जितनी व्याप्त थी उतनी शायद मधु में मधुता भी न होगी। मरते समय नादिरा ने अपनी लाश को हिंदुस्तान में दफन करने की इच्छा प्रकट की और इसी समय दारा का स्वागत करने को मलिक

१—यहाँ मगासी नाम की जाति ने दारा की सहायता कर उसे कंदहार तक भेजने का वचन भी दिया था।

जीवन भी यहाँ उपस्थित हुआ। उसके किले में पहुँचने पर दारा ने गुल-मुहम्मद तथा अपने बचे हुए अंतिम साहसी ७० सिपाहियों की रक्षा में नादिरा के शव को लाहौर, मियाँ मीर की समाधि के पास 'दफ़नाने' को भेज दिया। बेचारा स्वयं अपनी नादिरा का अंतिम संस्कार देख भी न सका—करना तो दूर रहा। ख्वाजा मकबूल भी, जिसने नादिरा की आजीवन सेवा की थी, उसकी लाश के साथ गया।

मलिक जीवन के यहाँ दो दिन रहने के बाद ९ जून १६५९ को प्रातः-काल दारा ने कंदहार जाना चाहा—क्योंकि अब नादिरा की अनिच्छा का प्रश्न ही न था। चलते समय उसने अपने बचे हुए आदमियों से कहा कि यदि वे चाहें हिंदुस्तान वापिस जा सकते हैं और यदि उनकी इच्छा हो तो उसके साथ निर्वासित हो फारस चल सकते हैं। इस पर सभी लोग चले गए। केवल दारा, उसकी दो पुत्रियाँ, सिपिर और कुछ नौकर ही शेष रहे। इन्हीं के साथ वह कंदहार की ओर रवाना हुआ। पर अभी वह बोलन दर्रे की ओर बढ़ ही पाया था कि नीच मलिक जीवन ने आकर उसे घेर लिया। बेचारा दारा दुःख से इतना परेशान और अचेत-सा था कि अपनी रक्षा के लिये उसने उँगली तक न उठाई। सिपिर ने अवश्य लड़ना चाहा पर वह अकेले कर ही क्या सकता था। उसके हाथ पीठ के पीछे बाँध दिए गए और अपने पिता और बहिनों के साथ वह कैद कर लिया गया। मलिक जीवन ने दारा की गिरफ़ारी का समाचार मिर्ज़ा राजा जयसिंह के पास भेजा और वहाँ से बहादुर खाँ २३ जून को आकर कैदियों को अपने अधिकार में ले दिल्ली के लिये रवाना हो गया। मलिक मुगल राज्य में 'हजारी' बनाया गया और उसे 'बख्तार खाँ' की उपाधि मिली। वह दिल्ली भी बुलाया गया जहाँ उसे और भी पुरस्कार मिलने की आशा थी।

२३ अगस्त को दारा कैदी के रूप में दिल्ली पहुँचा और खवासपुर गाँव के एक घर में कैद कर दिया गया। फिर २९ तारीख को, दिल्ली के लोगों को यह दिखाने के लिये कि उनका दारा गिरफ़ार हो गया है, औरंगजेब ने एक जुलूस निकलवाया। कितना मार्मिक था वह दृश्य ! हीरे और जवाहरात से लदा हुआ—सोने से सुसज्जित मृगराज पर बैठकर निकलनेवाला

दारा, उन्हीं दिल्ली की सड़कों से एक मैली और मिट्टी से सनी हुई बूढ़ी हथनी पर निकाला गया। खुला हुआ सादा हौदा—बिछाने को एक चादर तक नहीं। स्वयं दारा के शरीर पर भी मैले और फटे हुए कपड़े थे। सिपिर की भी यही दशा थी—दोनों के पैरों में जंजीरें पड़ी थीं और उनके पीछे बैठा था नंगी तलवार लिए नजर बेग। साथ में मलिक जीवन भी अपने अफ़गान सिपाहियों के साथ चल रहा था। सारी दिल्ली में, जहाँ कभी दारा के वैभव की तूती बोलती थी, यह जुलूस घुमाया गया। दारा का सिर झुका हुआ था—नेत्र उसके पैरों पर गड़े थे। ऊपर उठकर देखने का उसका साहस न होता था। मार्ग भर में केवल एक बार उसने अपना सिर उठाया जब सड़क पर इकट्ठी भीड़ में से एक बूढ़ा भिखारी रोकर चीख उठा—"ओह दारा! जब तुम स्वामी थे तो सदा ही हमें भिक्षा देते थे—पर आज मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि तुम्हारे पास मुझे देने को कुछ भी नहीं है।" दारा ने इस पर चुप-चाप उस फटे हुए पुराने शाल को जिससे उसका शरीर ढका था उतारकर भिखारी के पास फेंक दिया। डाक्टर बर्नियर ने इस करुण घटना को स्वयं देखा था और ऐसे करुण शब्दों में इसका उल्लेख किया है कि हृदय विदीर्ण हो उठता है। दिल्ली की समस्त प्रजा इस समय रो रही थी। शहर भर में आतंक छाया था, दुःख और अभिशाप के बादल घर घर मँडरा रहे थे। लोगों ने जुलूस के बाद पापी मलिक जीवन और उसके साथियों पर वार भी किया, पर औरंगजेब की सहायता से मलिक का कुछ भी न बिगड़ा। दारा के पक्ष में दिल्ली की जनता में ऐसा जोश देखकर औरंगजेब विचलित हो उठा। उसने तुरंत ही अपने उमरा और उलेमा आदि की सभा बुलाई और दुष्टा रौशनारा से भी इस विषय में राय ली। पर एक तो दारा की पहले ही से मुल्लाओं की उपेक्षा; दूसरे औरंगजेब की जहरीली खून भरी आँखें; तीसरे खलीलुल्लाह खाँ, शायस्ता खाँ, ऐसे दारा के जानी दुश्मन—ऐसी स्थिति में ढोंगी न्याय भी काँप उठा और २९ अगस्त १६५९ की संध्या को अभागे दारा की मृत्यु का 'फतवा' प्रकाशित कर दिया गया।

फिर दूसरे दिन, रात्रि में, रोते हुए सिपिर से जबरन छीना जाकर दारा एक कोठरी में 'कत्ल' कर दिया गया। सारा झंझट और सारी परे-

शानियाँ उसी के साथ समाप्त हो गईं—मायावी संसार का कार्य-क्रम फिर उसी भाँति धीरे धीरे चलने लगा। इस अतिशय गर्हित खूनी कार्य का भार नजर बेग और शफी खाँ को दिया गया था। 'तारीखए शुजाई' के लेखक का कहना है कि दारा के सिर ने—शरीर से अलग कर दिए जाने पर—पूर्ण 'कलिमाए शहादत' (मुसलमान होने का सबसे दृढ़ प्रमाण) पढ़ा और उसे उपस्थित लोगों ने सुना भी। इसके बाद, कुछ इतिहासकारों के अनुसार, ३१ अगस्त को दारा का मृतक शरीर दिल्ली में पुनः घुमाया गया, पर औरंगजेब के शक्तिशाली सिपाहियों के समक्ष कोई कुछ कर न सका।

मानुच्ची का कथन है कि रौशनारा की सलाह पर औरंगजेब ने दारा के कटे हुए खून से लथपथ सिर को एक संदूक में रखकर भेंट के रूप में शाहजहाँ के पास भेज दिया। शाहजहाँ ने पहिले इसे वास्तव में उपहार समझा और यह सोचकर कि औरंगजेब उसे भूला नहीं है वह हर्ष से आह्लादित हो उठा। पर जब जहानारा ने उसे खोला तो वह अचेत धम से पृथ्वी पर गिर पड़ा—स्वयं जहानारा भी चीख मारकर रो उठी जिसके दर्द से उस समय सारा महल काँप रहा था। हालाँ कि औरंगजेब के लिये यह कार्य असंभव नहीं, पर यह घटना कहाँ तक सत्य है यह निश्चयपूर्वक कहा नहीं जा सकता। इसके बाद दारा का सिर शरीर से जोड़कर हुमायूँ के मकबरे में दफन कर दिया गया—फिर न उसकी किसी ने चिंता की, न उसकी रक्षा! ऐसा विचित्र है यह संसार!

दारा की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों में सुलेमान को १६६१ में मृत्यु-दंड मिला और सिपिर को १४ वर्ष तक ग्वालियर तथा सलीमगढ़ के किलों में कैद रखने के बाद औरंगजेब ने उसका अपनी पुत्री जुबदतुन्निसा से विवाह कर दिया। दारा की दो पुत्रियों को शाहजहाँ और जहाँनारा की प्रार्थना पर आगरे भेज दिया गया था। बाद में, इनमें बड़ी, जानी बेगम के साथ, जो एक अद्वितीय सुंदरी थी औरंगजेब ने अपने दूसरे पुत्र मुहम्मद आजम का विवाह कर दिया।

पर कैसा करुण था इतिहास की इस अद्वितीय उज्ज्वल आत्मा, दारा का अंत जिसके उद्दीप्त आदर्श की ज्योति और जिसके महान् संदेश का गौरव संसार में कभी भी धूमिल नहीं हो सकता!

× × ×

चरित्र—मानुच्ची, जो विदेशियों में दारा का सबसे प्रिय था, दारा के विषय में लिखता है—"दारा······का आचरण महान् था, मुख सुंदर था, उसका वार्तालाप आनंददायक और शिष्ट था; वाणी उसकी सदैव दयाशील और तत्पर रहती थी—स्वभाव उसका स्वतंत्र था, दयालु, और करुणामय। किंतु अपने विषय में वह सदैव आवश्यकता से अधिक विश्वास करता था, अपने को प्रत्येक कार्य करने के योग्य समझता था और सम्मति-दाताओं की आवश्यकता वह कभी न अनुभव करता था। इस प्रकार उसके हार्दिक मित्र भी कभी उसे आवश्यक बातों से सूचित करने का साहस न करते थे। फिर भी उसकी इच्छाओं को समझ लेना सहज ही था।" इस विदेशी यात्री ने दारा की एक बहुत बड़ी कमजोरी को बड़ी सुंदरता से लिखा है। डाक्टर बर्नियर भी किसी न किसी रूप में इसकी पुष्टि करता है—"दारा के सद्गुणों में किसी प्रकार की भी कमी न थी, वह संभाषण में दयालु था, सरसोत्तर में निपुण तथा सभ्य, सुशील और अतिशय उदार। किंतु वह अपने विषय में बहुत ही गौरवान्वित विचार रखता था और उसे विश्वास था कि वह अपने मस्तिष्क की शक्ति से प्रत्येक कार्य को सफलतापूर्वक संपादित कर सकता है।·········उसका स्वभाव कुछ चिड़चिड़ा था, धमकी देने को वह सदा तत्पर रहता और अपमान तथा अनुचित भाषा का प्रयोग तो वह बड़े-बड़े उमरा आदि के लिये भी कर बैठता था; किंतु उसका क्रोध प्रायः क्षणिक ही हुआ करता......"

दारा के राजनैतिक जीवन में असफलता पर इन दो विदेशियों की टिप्पणियाँ अच्छा प्रकाश डालती हैं। इनमें मानुच्ची की अपेक्षा बर्नियर की सहानुभूति दारा के प्रति कम ही मालूम होती है।

कुछ इतिहासकारों तथा विद्यार्थियों की धारणा है कि दारा इतिहास में असफल और एक सर्वथा निरर्थक व्यक्ति है। किंतु ऐसा कहना इतिहास और उसके वास्तविक भावों के प्रति घोर अन्याय होगा। यदि हम उसकी असफलता पर ध्यान दें तो वह केवल इसी तत्त्व में है कि दारा ने युद्ध संबंधी और राजनैतिक कला को सदैव गौण स्थान दिया। अपितु, वह जीवन भर साम्राज्य में साहित्यिक चेष्टाओं द्वारा अनंत शांति और असीम अविरोध के स्थापन का

प्रयत्न करता रहा। ऐसी स्थिति में क्या उसके मस्तक पर केवल असफलता की कालिमा का टीका लगाना उचित होगा ?

धार्मिक दृष्टिकोण से भी इस्लाम के कट्टर अनुयायी दारा को नीच और गर्हित दृष्टि से देखते हैं। पर यह भी उचित नहीं जँचता। दारा और औरंगजेब दोनों ही इस्लाम को समान दृष्टि से देखते थे। अंतर केवल इतना ही था कि दारा का विश्वास इस्लाम की सच्ची आत्मा और उसके वास्तविक भावों में था, और औरंगजेब का कुरान शरीफ के प्रत्येक अक्षर में। उन्नति और शांति को अपने जीवन में व्याप्त किए दारा एक शांति-स्थापक के रूप में, एक धर्म का संदेश दूसरे धर्मानुयायियों तक पहुँचाने के कार्य में संलग्न था। पर उसी स्थान पर औरंगजेब समस्त संसार को इस्लाम में परिवर्तित कर अपने इस्लाम का ही झंडा गाड़ना चाहता था—उसके मनोभाव प्रतिक्रियात्मक थे और उसका कार्य सुधार-विरोधी।

शाहजहाँ में इस्लाम की धार्मिक कट्टरता और अकबर के समय की अपूर्व उदारता का एक विचित्र सम्मिश्रण था। उसका शासन-काल एक ऐसी धुरी थी जहाँ से युग प्रकाश और महत्ता से अंधकार और नीचता की ओर घूम रहा था। किंतु फिर भी दोनों धर्मानुयायी उसे समान रूप से मानते थे और उसके साम्राज्य में शांति तथा अविरोध के साथ निवास करते थे। शाहजहाँ के दो रूप थे जो दारा और औरंगजेब ने बारी-बारी से प्राप्त किए। दारा के पक्ष में पड़ा 'अपने बंधुओं और आत्मजों के प्रति अतिशय स्नेह, वैभव और विशालता; प्रेम, ज्ञान, पांडित्य तथा प्रवीणता की अति उदार प्रशंसा, संगीत और चित्रकारी में विशुद्ध रुचि तथा फलित ज्योतिष एवं खगोल-विद्या में विश्वास।' औरंगजेब के भाग में पड़ो—'धूर्तता, मानव-चरित्र के परिज्ञान की अपूर्व शक्ति, इरादों का तेजी से परिवर्तित होकर दृढ़ संकल्प का क्रियात्मक रूप धारण करना, कार्य करने की अथक क्षमता तथा नित्य के कार्य में अद्भुत रुचि'।

दारा के पास शारीरिक तथा मानसिक शक्ति और उत्साह दोनों ही थे। किंतु उसका जीवन असीम वैभव, सुख और ऐश्वर्य के पालने में आरंभ हुआ था, जहाँ न उसको अकबर और औरंगजेब की भाँति राज्य प्राप्त करने की आवश्यकता थी और न युद्ध-क्षेत्र में सेना को शत्रु के विपक्ष चतुरता से खड़ी करने की चिंता। उसे इन कार्यों में क्रियात्मक अथवा आभ्यासिक

अनुभव लेशमात्र भी न मिल सका जिसकी क्षति ने उसके विशाल जीवन को काँटों में उलझाकर नष्ट कर दिया।

दारा ने जहाँनारा के साथ औरंगजेब और सादुल्ला खाँ की चालों का राज्य में विरोध किया और न्याय को बचाकर कई बार उसकी रक्षा की। उसने अपनी उदारता और विशालता के गर्भ में हिंदुओं के प्रति शाहजहाँ की उदासीनता और उपेक्षा को छिपाकर इतिहास में आज दूसरा ही रूप उपस्थित किया। अन्यथा शाहजहाँ का समय मुगल राज्य के स्वर्णयुग के नाम से आज न पुकारा जाता। उसके काल की शिष्टता, सभ्यता और साहित्यिकता को उन्नत करने का श्रेय भी दारा को ही है जिसके बिना शायद शाहजहाँ के काल में ताजमहल और दो-एक अन्य इमारतों के अतिरिक्त गौरव करने योग्य कुछ भी न होता।

कभी कभी हमें प्रतीत होता है मानों दारा के रूप में महान् अकबर ने संसार में पुनः जन्म लिया हो। किंतु यह धारणा मिथ्या है—वास्तव में कोई दूसरा अकबर अभी तक पैदा ही नहीं हुआ। दारा और अकबर के धार्मिक विचार, राजनैतिक ज्ञान तथा कार्यों में बहुत अंतर था।

औरंगजेब के समय के कुछ लोगों का विश्वास है कि दारा की अँगूठी पर हिंदी में 'प्रभु' का शब्द लिखा होना और मथुरा के केशव राय मंदिर में पत्थर की चारदीवारी (रेलिंग) भेंट करना उसके विधर्मी होने का प्रमाण है। किंतु ऐसा सोचना नितांत नासमझी है। दारा का आध्यात्मिक ज्ञान, उसके धार्मिक विचार, मुसलमानों और विशेष कर औरंगजेब के समय के लोगों के लिये इतने उच्च और विशिष्ट थे कि उनको समझना उनकी शक्ति के सर्वथा परे हो गया। यही कारण है कि हम दारा के प्रति ऐसी ईर्ष्या और ऐसे विद्वेष की भावना पाते हैं।*

—

* इस लेख के लिखने में, और विशेषकर दारा के चरित्र में अन्य पुस्तकों के अतिरिक्त डाक्टर कालिकारंजन कानूनगो की पुस्तक 'दारा शुकोह' से विशेष सहायता मिली है।

अलाय-बलाय

[लेखक—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल]

ऊपर लिखे हुए शब्द के कई रूप हिंदी भाषा में पाए जाते हैं। मेरठ की बोली में या कुरु-पंचाल जनपद की भाषा में 'अलाय-बलाय' रूप प्रसिद्ध है। अवधी या कोसल जनपद की भाषा में 'अलैया-बलैया' रूप मिलता है। खड़ी बोली में 'अला-बला' रूप का प्रयोग होता है। ये शब्द हमारी भाषा में कहाँ से आए हैं, इनकी व्युत्पत्ति क्या है, यह प्रश्न बड़ा रोचक है। हिंदी में इस शब्द का अर्थ विपत्ति, विघ्न, बाधा आदि है। शब्दसागर में 'बला' और 'बलाय' दोनों रूप गृहीत हुए हैं। 'बला' के अर्थ (१) आपत्ति, विपत्ति, आफत, गजब; (२) दुःख, कष्ट; (३) भूत, प्रेत, भूत-प्रेत की बाधा, (४) रोग, व्याधि—इस प्रकार हैं। 'बलाय' शब्द के आगे ऊपर के चार अर्थों के अति-रिक्त पाँचवाँ यह और है—'पीछा न छोड़नेवाला शत्रु, अत्यंत दुःखदायी मनुष्य।' हमारे लिखित साहित्य अथवा बोली में 'बलाय' शब्द का जिन अर्थों में प्रयोग हुआ या होता है, वे ये ही हैं। शब्दसागर में 'अलाय' शब्द देखने में नहीं आया। शब्दार्थ-पारिजात में 'अलैया-बलैया' का पर्याय 'निछा-वर, खेल' दिया गया है। यह अर्थ प्राथमिक नहीं, गौण है। मूल अर्थ 'आपत्ति' या 'बाधा' का ही था जो 'अलैया-बलैया उतारना' इस मुहावरे में भी पाया जाता है।

इन दो शब्दों की व्युत्पत्ति पर हमारा ध्यान वेद के दो शब्दों के कारण गया है जिनका यहाँ वर्णन किया जाता है। इस संबंध में अथर्ववेद के पाँचवें अध्याय के १३वें सूक्त के निम्नलिखित मंत्र ध्यान देने योग्य हैं—

असितस्य तैमातस्य बभ्रोरपोदकस्य च।

सात्रासाहस्याहं मन्योरवज्यामिव धन्वनो विमुञ्चामि रथाँ इव ॥ ६ ॥

आलिगी च विलिगी च पिता च माता च ।
विद्म वः सर्वतो बन्ध्वरसाः किं करिष्यथ ॥ ७ ॥
उरु गूलाया दुहिता जाता दास्यसिक्न्या ।
प्रतंक दद्रुषीणां सर्वासामरसं विषम् ॥ ८ ॥

× × × ×

ताबुवं न ताबुवं न घेत्त्वमसि ताबुवम् ।
ताबुवेनारसं विषम् ॥ १० ॥*

इन मंत्रों के मोटे टाइप में छपे शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। तैमात, आलिगी, विलिगी, उरुगूला, ताबुव—इन शब्दों पर लोकमान्य श्री बाल गंगाधर तिलक ने अपनेएक लेख में विशेष विचार किया है। लेख का नाम है 'कैल्डिअन एँड इंडियन वेदाज' (कल्दी और भारतीय वेद) जो वैदिक कालगणना और वेदांग ज्योतिष (Vedic Chronology and Vedanga Jyotisha) नामक उनके निबंध-संग्रह में प्रकाशित हुआ है तथा १९१७ में भंडारकर-प्रशस्ति-ग्रंथ (कमीमोरेशन वाल्यूम) में पहले छपा था। उनके लेख का सारांश यह है कि प्राचीन बेबिलोनिया से मिले हुए धर्मग्रंथों में अथर्व वेद के कुछ नाम

---

* मंत्रों का शब्दार्थ—

६—काले तैमात और भूरे सर्वविजयी अपोदक के विष (मन्यु) से मैं तुम्हें छुड़ाता हूँ, जैसे डोरी को धनुष से और रथों को (घोड़ों से) अलग करते हैं।

७—आलिगी और विलगी, पिता और माता—तुम्हारे सब बंधुओं को हम जानते हैं। रस-विहीन होकर तुम क्या कर सकोगे ?

८—उरुगूला की बेटी, काली की साथ पैदा हुई दासी—(आदि) रेंगकर भागनेवालों का विष रसहीन हो गया है।

१०—ताबुव—या नहीं ताबुव—तुम निश्चय ताबुव नहीं हो। ताबुव के द्वारा तुम्हारा विष रज-हीन (किया गया है)।

और शब्द मिलते हैं जिससे पारस्परिक संपर्क सूचित होता है। जैसे वैदिक तैमात का ही रूपांतर कल्दी ग्रंथों में तिआमत है जो वैदिक वृत्र के समान प्रारंभिक जलरूप सर्प या अहि था। कल्दी गाथाशास्त्र में तिआमत[१] एक स्त्री है पर कभी कभी पुरुष रूप से भी उसका वर्णन देखने में आता है। वैदिक उरुगूला के जोड़ का प्राचीन अक्दी भाषा में जो म्लेच्छवंशी (सेमेटिक) भाषा थी 'उरु गल' या उरु गुल था जिसका अर्थ है 'बड़ा (गल या गुल) नगर (उरु)। प्राचीन सुमेर की भाषा में भी उरु नगर का पर्यायवाची था और प्रेतात्मा पितरों के पाताल में स्थित निवासस्थान को 'उरुगुल' या 'महापुर' कहा जाता था। 'उरुगूला की पुत्री' अर्थात् पाताल लोक से संबंधित, यह विशेषण सर्प जाति के लिये ठीक ही है। ताबुव शब्द का अर्थ था ताबु-संबंधी, ताबु = अपवित्र वस्तु का संस्पर्श। यह शब्द प्रत्यक्षतः विदेशी भाषा का जान पड़ता है।

हमारी जिज्ञासा का संबंध जिन दो शब्दों से है—आलिगी-विलिगी—उनके बारे में तिलक का कहना है कि ये प्राचीन अक्दी या म्लेच्छ भाषा के शब्द हैं। 'आलिगी' का समकक्ष कोई नाम उन्होंने नहीं दिया पर बिलगी (Bil-gi) नाम का एक देव असिरिया में था। विलिगी और बिलगी एक-दम सगोती जान पड़ते हैं। यह समानता प्राचीन वैदिक आर्य जाति और असुर जाति के संपर्क को बताती है। यह संपर्क किस रूप में और किस युग में हुआ, ये बातें भविष्य के पुरातत्त्व-शास्त्र या प्राचीन भाषाओं और धर्मों के गंभीर तुलनात्मक अध्ययन से कभी मालूम होंगी।

१—बाइबिल में भी कल्दिया और बेबिलोनिया देशों का जिक्र है। बाइबिल में जो सृष्टि का वर्णन है वह यहूदियों ने प्राचीनतर बेबिलन की सभ्यता से लिया था। बाइबिल का हेब्रू शब्द तेहोम (Tehom = गंभीर अगाध जल), असीरिया का तमतु (Tamtu) और कल्दी तिआमत (Tiamat) एक ही मूल से जुड़े हैं।

हमारा अनुमान है कि बिलगी की धारा म्लेच्छ परिवार की भाषाओं की परंपरा से अरबी भाषा के 'बला' शब्द में है[१]। बिलिगी शब्द से उत्पन्न दूसरी धारा आर्य परिवार की बोलियों में बलाय या बलैया के रूप में विद्यमान है। आलिगी से मिलता-जुलता 'अला' शब्द अरबी भाषा में नहीं है। परंतु हिंदी भाषा में आलिगी-बिलगी से मिलते हुए दोनों शब्द अलइया-बिलइया, या 'अलाय-बलाय' मौजूद हैं। एक ओर वैदिक संस्कृत और दूसरी ओर आधुनिक भारतीय आर्य-भाषा अर्थात् हिंदी—इन दोनों में काल की बड़ी दूरी अवश्य है, पर परंपरा एक ही है। वैदिक भाषा—संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश—आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ जैसे हिंदी, गुजराती, मराठी आदि, यही विकास की धारा का प्रवाह रहा है। हिंदी शब्दों की व्युत्पत्ति के लिये जनपदों की बोलियों के सांगोपांग अध्ययन की बड़ी भारी आवश्यकता है। उनके शब्दों में अनेक ऐसे होंगे जिनकी आयु वेद के युग तक जायगी और अनेक ऐसे भी हैं जिनका प्रचार साहित्य की अपेक्षा बोलियों में अधिक प्रचलित रहा है। साहित्य में अलैया-बलैया का प्रयोग शायद ही कभी हुआ हो, संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश के काव्यों में उसके उदाहरण हमारे देखने में नहीं आए; परंतु जनसाधारण के प्राकृत वचनों में ये प्रतिदिन के चालू शब्द हैं। इसी बात को बताने के लिये हम एक अन्य शब्द का उदाहरण लेते हैं। यह है इंड्व शब्द। इसी से हमारी बोलियों का इंडुरी या इंडरी शब्द बना है। शतपथ ब्राह्मण और कात्यायन श्रौतसूत्र में इस शब्द का प्रयोग आया है। आग पर से जलती कड़ाही पकड़कर उठाने के लिये दोनों हाथों को मूँज की बनी दो गद्दियों को इंड्व (द्विवचन में इंड्वे) कहा जाता था।

१—अरबी में बला शब्द = आफत, दुःख, तकलीफ—Steingass Arabic Dictionary, p. 138, *bala'* = visitation, affliction, calamity, sorrow, trouble. फारसी में बला शब्द अरबी भाषा से ही आया है और अर्थ भी एक से ही हैं। स्टाइनगास ने अपने फारसी कोष में भूत प्रेतबाधा, शैतान (evil spirit, devil, fiend) और दिया है।

इसका इंडुब भी एक पाठ है। पर हिंदी के इंडुरी शब्द से इंडू का ही अधिक समर्थन होता है। संस्कृत या प्राकृत एवं अपभ्रंश के कवियों को ऐसे प्रसंग कहाँ मिले जो इस ठेठ शब्द का स्मरण करते, परंतु क्या इससे इस शब्द की सहस्राब्दियों लंबी आयु में कोई अंतर पड़ सकता है? मूँज या बान की बनी हुई गोल चकिया जैसी कुंडली को जिस पर बहुधा पनिहारिनें घड़े टेकती हैं आज भी इंडरी या इंडुरी कहते हैं। लोक की जीवित बोलियों का अध्ययन अवश्यमेव बड़े काम की वस्तु सिद्ध होगी, उससे हिंदी के अनगिनत शब्दों की व्युत्पत्ति का नकशा समझ में आने लगेगा।

अलैया-बलैया शब्द का संबंध लोक में एक विशेष त्योहार से भी है। दीवाली के दूसरे दिन बलि प्रतिपदा होती है। उस दिन बहुत प्रातःकाल घरों से अलाय-बलाय या दारिद्र्य को बाहर निकाला जाता है। दरिद्दर भगाने की यह रस्म दिवाली के प्रातःकाल सूप बजाकर की जाती है। इसे हिंदी-शब्द-सागर में 'सेरवा' भी कहा है। हो सकता है इसके मूल में कोई ऐतिहासिक घटना छिपी हो। दीपावली के आगे पीछे के कई त्यौहारों का संबंध बलि, यम, नरक से है, जैसे नरक-चतुर्दशी, यम-तर्पण, यम-दीपदान, यमघंटा, बलिप्रतिपदा, यमद्वितीया आदि। नरक और बलि दोनों ही भारतीय इतिहास की साक्षी के अनुसार असुर थे। हो सकता है इन तिथियों के आस-पास उनका पराभव कभी हुआ हो। आलिगी और विलिगी नामक उत्पीडकों का उनसे ही संबंध हो सकता है। उनके विनाश की लोक-प्रचलित स्मृति आज भी अलैया-बलैया जलाने के रूप में देखी जाती है। सन की तीलियों के मुट्ठे अलैया-बलैया कहकर बाजार में बिकते हैं। उन्हें ही 'अलाय-बलाय दूर करो' के घोष के साथ दिवाली की शाम को और अगले दिन बहुत प्रातःकाल जलाते हैं। ऐसी लोक-प्रथा यहाँ अवध में है। अन्यत्र भी इसका अनुसंधान किया जा सकता है। आलिगी-विलिगी = अलैया-बलैया, इस सूत्र पर यदि ऐतिहासिक प्रकाश की दो-एक किरणें कहीं से पड़ सकें तो कितना सुंदर हो। जलप्लावन के बाद ऊर में राज्य करनेवाले वंश के दो राजाओं के नाम एलेलु और बलुलु (Elelu, Balulu) थे जिन्होंने एक दूसरे के बाद क्रमशः २५ वर्ष और ३६ वर्ष राज्य किया। इनका काल ३२०० ई०

पू० से पहले चौथी सहस्राब्दी अनुमान किया गया है—(केंब्रिज एंशेंट हिस्ट्री १।३६७)। परंतु सुमेर जाति की सभ्यता और आर्य संस्कृति के प्रारंभिक उद्गम और उनके पारस्परिक संबंध और संपर्क का विनिर्णय अभी तक इतिहास की गूढ़ पहेली है। कालांतर में संभव है उसका उद्घाटन हो परंतु आलिगी-विलिगी के वैदिक सूत्र के साथ अलैया-बलैया के लौकिक सूत्र का मिलान तो तब तक के लिये अवश्य ही समीचीन माना जा सकता है।

चयन

संस्कृत वाङ्मय में 'सरस्वती' शब्द

उपर्युक्त विषय पर श्री एम० पी० एल० शास्त्री का एक उपादेय लेख 'दी पूना ओरिएंटलिस्ट' के ग्रंथ ६—अंक ३-४ में प्रकाशित हुआ है। यहाँ उसका अनुवाद प्रस्तुत है। —कृ।

संस्कृत में 'सरस्वती' शब्द के ये अर्थ होते हैं :

(१) विद्या की देवता—ब्रह्मा की पत्नी (कथित), (२) वाणी, (३) एक नदी का नाम या साधारण नदी, (४) गौ, (५) उत्तमा नारी, (६) दुर्गा का एक नाम, (७) बौद्धों की एक स्त्री देवता का नाम, और (८) सोमलता या ज्योतिष्मती नाम की लता।

यह शब्द अस्मरणीय काल से एक नदी के नाम और विद्या की देवता का वाचक रहा है। कहीं कहीं यह ब्रह्मा की पत्नी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस लेख में इस शब्द के इतिहास का शोध करने और यह दिखाने का प्रयत्न है कि सरस्वती ब्रह्मा की पत्नी है इस कल्पना का उद्भव वेदोत्तर है।

ऋग्वेद में इस शब्द का दोहरा अर्थ है। प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् सायणाचार्य १।३।१२ मंत्र का भाष्य करते हुए कहते हैं—

द्विविधा हि सरस्वती विग्रहदेवता नदीरूपा च।

यास्क ने अपने निरुक्त (२।२३) में कहा है—

तत्र सरस्वतीत्येतस्य नदीवद्देवतावच्च निगमा भवन्ति।

बहुत बार यह शब्द वैदिक वाङ्मय में एक सीमाप्रांतीय नदी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जो महामरु की बालुका में लुप्त हो गई है। इस सरस्वती नदी का आर्यों के दैनिक जीवन में, उनके भारत में बसने के प्रारंभिक दिनों में, एक प्रमुख स्थान था। इसकी गणना सबसे बड़ी नदियों में होती थी। आर्यों के दैनिक जीवन-निर्वाह और उनकी समृद्धि

में यह सहायक होती थी। यह पुण्यमयी समझी जाती थी। इस सरिता की महाशक्तिमत्ता से वैदिक कवि इसके गौरव-गान के लिये उत्प्रेरित हुए थे। सरस्वती वह एक ही नदी थी जो शुचि जल से भरी पर्वतों से सागर तक बहती थी।

एका चेतत् सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात्।
(ऋ० ७।९५।२)

इस नदी का जल विविध वैदिक कर्मों के लिये लिया जाता था (१०।७५।५-६; १।३२।१२; ४।२८।१)। वैदिक ऋषि इस पवित्र नदी के तट पर अपने यज्ञ करते थे।

ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत। (*ऐतरेय ब्राह्मण* २।१९)

सरस्वती को वाणी (या वाक्) भी कहा गया है। इसे वाग्मिता और विज्ञता की देवता कहा गया है। यह पवित्र करनेवाली देवी, शक्तिमती, ऋषियों के द्वारा यज्ञों में उपस्थित रहने के लिये सदा प्रार्थित समझी गई है।

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः।
(ऋ० १।३।१०)

और इससे वाणी में मधुरता ढालने की, भले विचार जगाने की, धीमानों का ध्यान रखने की, और सत्यव्रतियों को प्रोत्साहित करने की आशंसा की गई है।

चोदयित्री सूनृतानां सुमतीनां चेतन्ती। (ऋ० १।३।११)

वैदिक आर्यों के लिये सरस्वती पहले नदीदेवता से अधिक कुछ नहीं रही। पीछे, यह जान पड़ता है कि उन्होंने 'वाक्' के साथ इस शब्द का एकीकरण किया और तब विज्ञता या विद्या की देवता के रूप में इसकी कल्पना की। ऋग्वेद में तीन पूरे सूक्तों में इसकी प्रशंसा हुई है और बहुतेरे स्फुट मंत्रों में इसका निर्देश हुआ है। वैदिक कवियों के मन में नदी के साथ सरस्वती देवता का एकीभाव सदा उपस्थित रहा जान पड़ता है।

ऋग्वेदोत्तर काल में इस शब्द का प्रयोग संध्या समय पूज्य एक स्त्री देवता के अर्थ में हुआ है। अथर्ववेदीय सूक्तों के कवियों ने सरस्वती के

साथ एक और ही विरुद जोड़ा। अथर्ववेद (७।११।२) में इससे सर्पदंश के विषमय प्रभाव के निवारण की प्रार्थना की गई है।

इस शब्द का उक्त दोहरा वाच्यार्थ पूर्ववर्ती विशिष्ट संस्कृत वाङ्मय में चलता आया है। वाल्मीकीय रामायण में यह शब्द एक नदी का नाम और वाणी इन दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। वाल्मीकि ने निषाद को शाप दिया था। वे उस कारण बहुत खिन्न थे, क्योंकि वह रामकथा के लिये, जिसकी उन्हें रचना करनी थी, एक अमंगल आरंभ हो जाता। कवि जब इस भाव से अभिभूत थे तब ब्रह्मा पहुँचे और उन्होंने उनसे खेद न करने और कथा आरंभ करने का आदेश किया। तब उन्होंने कहा—

मच्छंदादेव ते ब्रह्मन् प्रवृत्तेयं सरस्वती।

सरस्वती शब्द यहाँ वाणी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आगे अयोध्या और किष्किधा कांडों में यह इस नाम की नदी के अर्थ में आया है—

सरस्वतीं च सिंधूं च शोणं मणिनिभोदकम्। (किष्किधा ४०।२१)

सरस्वतीं च गङ्गां च युग्मेन प्रत्यपद्यत। (अयोध्या ७१।५)

इस शब्द ने इस दोहरे अर्थ का कालिदास के समय में भी निर्वाह किया है। उन्होंने वाणी के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों में किया है।

आत्तशास्त्रस्तदध्यास्य प्रस्थितस्स रघूद्वहः।
उच्चचार पुरस्तस्य गूढरूपा सरस्वती॥ (रघुवंश १५।४६)

इति देहविमुक्तये स्थितां रतिमाकाशभवा सरस्वती।
शफरीं ह्रदशोषविक्लवां प्रथमा वृष्टिरिवान्वकम्पयत्। (कुमारसंभव ४।३९)

दोनों ही स्थलों में 'अशरीरा वाक्' ही निर्दिष्ट है। बहुत बार सरस्वती विशिष्ट संस्कृत वाङ्मय में विद्या की देवता के रूप में वर्णित हुई है, जो रूप वैदिक काल में प्रचलित था।

स्यात् पौराणिक काल में विद्वानों ने सरस्वती के उद्भव और ऐतिह्य की बात सोची। पुराणों में वह एक हाथ में वीणा और दूसरे में पुस्तक धारण करनेवाली एक शुक्लवर्णा देवी के रूप में वर्णित हुई है। वह समस्त वाक् की अधिष्ठात्री देवी है। कवियों की वह इष्टदेवता है और वह एक बहुत शांतिमयी देवी मानी गई है। पद्मपुराण सरस्वती को

ब्रह्मा की दुहिता के रूप में, जो उनके मुख से प्रथम उद्भूत हुई, वर्णित करता है। ब्रह्मवैवस्वत पुराण का ब्रह्मखंडाध्याय यह ऐतिह्य बताता है—

आविर्बभूव तत्पश्चात् मुखतः परमात्मनः।
एषा देवी शुक्लवर्णा वीणापुस्तकधारिणी॥
वागधिष्ठातृदेवी सा कवीनामिष्टदेवता।
शुद्धसत्त्वस्वरूपा च शान्तरूपा सरस्वती॥

उसी वैवस्वत मे एक दूसरे स्थल में कहा गया है कि सरस्वती पहले भगवान् कृष्ण के कंठ से निकली थी और बड़ी ही विचित्रता है कि १२वीं शती के प्रसिद्ध कवि श्रीहर्ष ने नैषधकाव्य में इसे विष्णुपत्नी के रूप में वर्णित किया है।

पद्मपुराण सरस्वती के जादूभरे सौंदर्य को कारण बताते हुए उसके साथ ब्रह्मा के विवाह की कथा सुनाता है। यह कल्पना बहुत परवर्ती काल के पूर्व प्रचलित हुई जान नहीं पड़ती, यद्यपि चंपूरामायण के कर्त्ता भोजदेव इस पद में यह ध्वनित करते हैं कि सरस्वती ब्रह्मा की पत्नी है—

वाणीविलासमपरत्र कृतोपलम्भ-
मम्भोजभूरसहमान इवाविरासीत्।
आभाति यत्कृतिरनेकविधप्रपञ्च-
व्याजेन्द्रजालविधिसाधकपिञ्छिकेव॥

यह कविता अवश्य एक अलंकारमयी भाषा मे है। पर यह वह कल्पना व्यक्त कर देती है कि सरस्वती ब्रह्मा की पत्नी है, जो स्यात् उस समय के लोगों के मन मे व्याप्त थी।

यह बात कौतूहलजनक है कि संस्कृत का एक भी कोश ऐसा एक भी शब्द नहीं बताता या संकेतित करता जिसका तात्पर्य यह हो कि सरस्वती ब्रह्मा की पत्नी हैं।

जैन कोश अभिधानराजेंद्र इन अर्थों में इस शब्द का प्रयोग बताता है—(१) उस राजकुमारी का नाम जिसने किसी धनवहन (नामक पुरुष) से विवाह किया था, (२) गंधर्व राजा गीतारति की रानी, और (३) विद्या की देवता।

प्रसिद्ध संस्कृत कोश वैजयंती इस शब्द का विद्या की देवता और गौ या पृथ्वी के अर्थों में प्रयोग बताता है।

शब्दकल्पद्रुम विद्यादेवता के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग बताता है। इस देवता का ऐतिह्य बताने के लिये वह ब्रह्मवैवस्वतपुराण के ब्रह्मसंडाध्याय का एक अवतरण देता है।

प्रसिद्ध संस्कृत कोश अमरकोश सरस्वती शब्द के ये पर्याय देता है जो उस की देवता के वाचक तो हैं, परंतु उपर्युक्त अर्थ का यह कहीं संकेत नहीं करता।

ब्राह्मी (तु) भारती भाषा गीर् वाग् वाणी सरस्वती। (१।५।१)

न अमर कोश और न उसके टीकाकार कहीं यह संकेत करते हैं कि सरस्वती ब्रह्मा की पत्नी है। प्रत्युत, लक्ष्मी और पार्वती के प्रसंग में उन्होंने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जिनसे विष्णु और ईश्वर (शिव) से उनका संबंध व्यक्त हो जाता है।

(i) कमला श्रीर्हरिप्रिया (१।१।२७)

(ii) शिवा भवानी रुद्राणी (१।१।३७)

अमरसिंह द्वारा विष्णु और ईश्वर के लिये प्रयुक्त गुणवाचक नाम भी बताते हैं कि वे क्रमशः लक्ष्मी और पार्वती के पति हैं।

विष्णु के लिये माधव (मायाया: लक्ष्म्या: धव:)

ईश्वर के लिये उमापति (उमायाः पति:)

और यह सार्थक बात है कि नामलिंगानुशासन का कर्ता कोई ऐसा शब्द नहीं देता जो सरस्वती और ब्रह्मा के बीच उस संबंध का वाचक हो। कुछ विद्वानों ने सरस्वती के पर्याय के रूप में प्रयुक्त 'ब्राह्मी' शब्द का अर्थ ब्रह्मा की पत्नी लगाया है। परंतु इसमें संदेह है कि वह शब्द यह अर्थ संकेतित कर सकता था। 'ब्रह्मण इयं ब्राह्मी' से यह अर्थ असंभव है। यह अर्थ संकेतित करने के लिये इसे मृदानी के समान 'ब्रह्माणी' होना चाहिए था। ऐसा शब्द अमरकोश में कहीं नहीं है।

अतः यह स्पष्ट है कि सरस्वती ब्रह्मा की पत्नी है इस कल्पना का वैदिक काल में या पूर्ववर्ती विशिष्ट संस्कृत के काल में अस्तित्व न था। इस कल्पना का उद्भव उत्तरकाल में पौराणिक वाङ्मय से हुआ है।

ख आदि शून्यवाची शब्द एवं आकाश के साथ उनका दार्शनिक संबंध

उपर्युक्त विषय पर डा० आनंद कुमारस्वामी के एक उपादेय लेख का उनके अनुरोध से श्री वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा किया अनुवाद 'विश्वभारती पत्रिका' के खंड १, अंक १ में प्रकाशित हुआ है। वह यहाँ संगृहीत है। —कृ।

'ख' [= यूनानी Xaos] का अर्थ साधारणतः विवर है। ऋग्वेद में इसका प्रयोग चक्र की नाभि के बीच के विवर के लिये हुआ है जिसमें धुरा घूमता है। भारतीय गणित की परिभाषा में ख 'बिंदु' या 'शून्य' के लिये प्रयुक्त हुआ है।

आर्यभट की टीका में सूर्यदेव ने लिखा है कि ख शून्य का उपलक्षण है (खानि शून्या उपलक्षितानि)। शून्य, आकाश, व्योम, अंतरिक्ष, नभ, अनंत और पूर्ण, ये भी बिंदु के वाचक शब्द हैं। यह विचित्र है कि शून्य (=रिक्त) और पूर्ण (=भरित) दोनों एक ही अर्थ के वाचक माने गए हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस वस्तु में संख्या का असंग है उसमें वस्तुतः समस्त संख्याएँ निहित रहती हैं। यह प्रतीत होता है कि शून्य का संख्या के साथ वही संबंध है जो कि संभवता का वास्तविकता के साथ है। बिंदु की एक संज्ञा अनंत है, जो यह बताती है कि बिंदु और अनंतता का तादात्म्य संबंध है। अर्थात् गणित की क्रमिक संख्याओं का आदि और अंत एक ही है। यह भाव बहुत प्राचीन साहित्य में भी मिलता है। ऋग्वेद ४।१।११ में अग्नि को अपाद् और अशीर्ष बताते हुए यह कहा गया है कि उसका आदि और अंत उसी में अंतर्निहित है, अर्थात् उसके प्रारंभ और पर्यवसान के दोनों छोर उसी में छिपे हैं (अपादशीर्षा गुहमानो अन्ता)। ऐतरेय ब्राह्मण ३।४।३ में कहा है कि अग्निष्टोम अग्नि का दूसरा नाम है। यह अग्निष्टोम रथ के पहिये के समान अनंत (अंत-रहित) है। यह यज्ञ 'अपूर्व' और 'अनपर' है। इसका जो आदि है वही अंत है, जो पूर्व है वही अपर है, जो अपर है वही पूर्व है (स वा एषोऽपूर्वोऽनपरो यज्ञक्रतुर्यथा रथचक्रमनन्तमेवं यदग्निष्टोमः यथैवप्रायणं तथोदयनं ·····यदस्य

पूर्वमपरं तदस्य यद्वस्यापरं तद्वस्यपूर्वम्)। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १।३५ के अनुसार संवत्सर अनंत है, हेमंत और वसंत उसके दो सिरे हैं, जो एक दूसरे के साथ समेत हैं······इसी तरह साम भी अनंत है। इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि बाद के गणितशास्त्रियों ने बिंदु के लिये जो शून्य, अनंत, और पूर्ण संज्ञाओं का प्रयोग किया उनका मूल प्राचीन दार्शनिकों के विमर्श में उपलब्ध था। ख का जो अर्थ गणित में है और जो दर्शनशास्त्र में है, उन दोनों के पारस्परिक साम्य को स्पष्टता से समझ लेना चाहिए। इसके लिये कागज पर एक बिंदु की कल्पना करके उसी केंद्र से एक छोटा और एक बड़ा दो वृत्त खींचे जायँ। केंद्र-बिंदु के सिवाय जिसमें लंबाई चौड़ाई और मोटाई का अभाव है, इस चित्र में प्रत्येक भाग काल्पनिक है अर्थात् वृत्त और त्रिज्या की संख्या इच्छानुसार घटाई-बढ़ाई जा सकती है। प्रत्येक वृत्त एक अविच्छिन्न सम-धरातल का सूचक है। इस चित्र में बिंदु, अद्वैत अथवा संख्या से अनासक्त है। वृत्त की परिधि अनंत बिंदुओं का समवाय है जिन्हें हम संख्य कह सकते हैं। इन बिंदुओं का सर्वयोग (totality) गणित की क्रमिक संख्याओं के, जो एक से अनंतता तक चली गई हों, योग के बराबर है। परिधि और केंद्र के बीच के शून्य भाग का संख्या की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। वृत्त से परिमित क्षेत्र 'देश' का सूचक है, केंद्र के चारों ओर परिधि का परिभ्रमण 'काल' है। एक परिधि पर जो बिंदु हैं, उन्हीं के समीकरण में दूसरी परिधि पर भी बिंदु हैं। यदि हम दोनों वृत्तों की तुलना पृथ्वी और आकाश से करें तो इस समीकरण का महत्त्व समझ में आ जाता है। जैसा एक वृत्त में है वैसा ही दूसरे वृत्त में है। अर्थात् जैसा 'इस' लोक में है, वैसा ही 'उस' लोक में है—यह नियम चरितार्थ होता है। यदि हम इन वृत्तों की त्रिज्या को कम करते हुए चलें तो केंद्र में पहुँचते हैं। वेद के शब्दों में यही 'सम-वर्तताग्रे' है। स्पष्ट है कि परिधि के समस्त बिंदुओं का समवाय केंद्र में पूर्ण रहता है। यह केंद्र शून्य बिंदु का प्रतिनिधि है और असत् और सत् का सम्मिलित रूप है। स्वयं आयाम-रहित होने से इसकी कोई सत्ता नहीं, तथा समस्त बिंदुओं की सत्ता इसी में विलीन है।

इस प्रकार केंद्र और वृत्त के स्वरूप की तुलना रथचक्र में, विशेषतः सूर्य के रथ के पहिये में कल्पित की गई है। ऋग्वेद १।१५५।६; १।१६४।२, ११, १३, १४, ४८; अथर्व० १०।८।४-७; कौषीतकी ब्राह्मण २०।१; जैमिनी उपनिषद् ब्रा० १।३५; बृहदारण्यक उप० १।५।१५; श्वेताश्वतर उप० १।४; प्रश्न उप० ६।५-६ आदि स्थलों में संवत्सर को एक अजर अमर चक्र माना गया है जिसमें विश्व-भुवनों की स्थिति है। यह देवों का संतत गतिमान् चक्र है जो समस्त जीवन के उद्गम का आधार है। इस पहिये का कोई आरा आगे-पीछे नहीं कहा जा सकता। पहिये के भिन्न अवयव ये हैं—आणि या अक्षाग्र बिंदु जिसके ध्रुव आधार से धुरा टिका रहता है; ख या नाभि अर्थात् पहिये का मध्यभाग; अर या नाभि और नेमि के बीच के काष्ठ; नेमि या पवि। वस्तुतः नाभि और उसके भीतर का अक्षबिंदु या अणि कभी कभी एक ही मान लिए जाते हैं क्योंकि दोनों ही केंद्र के सूचक हैं। जिस प्रकार केंद्र में समस्त वृत्त अंतर्निहित रहता है उस प्रकार आणि में नाभि अथवा कुल चक्र अंतर्निहित माना जा सकता है। संसाररूपी चक्र की 'नाभि' या 'ख' विश्व का उद्गमस्थान है। ऋग्वेद २।२८।५ में कहा है—हे वरुण, हम तुम्हारे ऋत के ख बिंदु को प्राप्त करें (ऋध्याम ते वरुण खमृतस्य)। विश्व का मूल अव्यक्त अवस्था से व्यक्त में आता है। वैदिक परिभाषा में इसे यों कहा जाता है कि 'हे इंद्र, तुमने पत्थरों से ढके हुए (अपिहितानि अश्ना) ख प्रदेश का भेदन करके जीवन के उत्स को प्रवर्तित किया, अथवा सप्त सिंधुओं के प्रवाह को उन्मुक्त किया (ऋ० ४।२८।५; ५।३२।१)। इस प्रकार वस्तुओं की कल्पना दो अवस्थाओं में की गई है, एक 'अपिहित' [*ante principium*] और दूसरी 'जायमान' [*in principio*]। अव्यक्त दशा के लिये वैदिक शब्द बुध्न, अद्रि, पर्वत या अश्मन् आदि हैं। इन्हीं में जीवन के 'सप्त सिंधु' बंद थे जिन्हें वज्र के द्वारा इंद्र ने स्वच्छंद किया, अथवा इन्हीं में बंद गौ और अश्वों को इंद्र ने मुक्त किया। ये इंद्र के प्रशंसनीय कार्य हैं। यह 'अच्युत अद्रि' (ऋ० ६।१७।५) अनंत अश्मा ['rock of ages'] है। यही वह ध्रुव बिंदु है जहाँ सृष्टि चक्र का अक्ष पिरोया रहता

है। विश्व के अनंत अव्यक्त सागर में इस अक्ष की अनी ही 'बुघ्न' या केंद्र-बिंदु है। यहाँ सृष्टि से पूर्व की अपिहित या ढकी अवस्था में [*ante principium*] अग्नि या जीवन = प्राण को गुहमान कहा गया है [गुहा सन्तं, ऋ० १।१४१।३], वह अपने आदि-अंत को छिपाए रहता है [गुहमानो अन्ता, ऋ० ४।१।११]। 'गुहमानो अन्ता' का तात्पर्य वही है जो अनन्त का है, अर्थात् अंत-रहित, निस्सीम, शाश्वत। अग्नि [जीवन] का एक सिरा दूसरे से मिला हुआ है, रथ-चक्र की भाँति वह अनंत है, उसका जो आदि है वही अंत है; इसी कारण प्राण की धारा संततवाही एवं अनुच्छिन्न है।

अध्यात्मदृष्ट्या रथचक्र का रूपक महत्त्वपूर्ण है। प्रथम शून्य अवस्था (बिंदु और परिधि के भेद से अतीत) अदिति है जो सृष्टि-संभावना की जननी है। अक्षबिंदु ख या नाभि वह अद्वैत भाव है जिसमें विश्व एकत्र रहता है [विश्वमेकम् ऋ० ३।५४।८]। सत् तत्त्व में विभिन्नता की कल्पना का मानसिक उदय यही चक्र का निर्माण है। प्रत्येक अरा नाम-रूपात्मक व्यक्ति के पृथक् आयोजन को सूचित करता है। परिधि बहुत्व के नियम या विषमत्व की प्रतिनिधि है। धर्मग्रंथों की परिभाषा के अनुसार शून्य या भेदातीत अवस्था ब्रह्म (परब्रह्म, अदिति, तमः या आपः) है। अक्षबिंदु या ध्रुव-अधिष्ठान (axle-point) ईश्वर (आदित्य अपर ब्रह्म, ज्योति) है। नाभि स्वर्ग है। नाभि की परिधि पर प्रत्येक बिंदु, जहाँ से अरे का प्रारंभ संभव है, मन [या देव, नाम] है। नेमि पृथिवी है जिसपर अनेक विषय (विश्व-रूप) दृष्टिगोचर होते हैं। चक्र का निर्माण ही यज्ञात्मक कर्म या सृष्टि है। चक्र का ध्वंस प्रलय है। अरे के अनुसार व्यक्ति की गति पहले प्रवृत्ति की ओर [केंद्र से नेमि की ओर] होती है, पीछे वही निवृत्ति की ओर जाती है और व्यक्ति मध्य केंद्र की ओर प्रवृत्त होता है। व्यक्ति-जीवन का केंद्र जब विश्व के केंद्र से मिल जाता है, तभी व्यक्ति मुक्त कहा जाता है;'तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्'—यह योग-सूत्र चरितार्थ होता है।

ख, आकाश, अंतरिक्ष, शून्य, ये बिंदु के पर्याय क्यों माने गए ? वस्तुतः आकाश से तात्पर्य भौतिक आकाश से नहीं है। आकाश वह वस्तु है जिसे वेदांत सूत्रों में ब्रह्म का पर्याय माना है। इस आकाश में लंबाई

चौड़ाई आदि की कल्पना नहीं की जा सकती; जिस प्रकार बिंदु सब आयामों से परे है वैसे ही यह आकाश या शून्य भी है, यद्यपि जैसे बिंदु की कुक्षि से वृत्त का जन्म होता है, वैसे ही इस आकाश से भौतिक आकाश उत्पन्न होता है। छांदोग्य उप० (१।६।१) में कहा है कि आकाश से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, आकाश में अस्त हो जाते हैं, आकाश ही उनका परायण है। यही आकाश मनुष्य के अंतर्हृदय में व्याप्त है। इसे ही आयतन, वेश्म, नीड या कोष भी कहा जाता है जिसमें हमारी सत्ता का सब आधार गुहानिहित है। बृहदारण्यक उपनिषद् (५।१) में कौरव्यायणीपुत्र का एक सुंदर वचन दिया हुआ है जिसमें इस पुराण आकाश को ब्रह्म और प्राण कहा गया है—ॐ३ खं ब्रह्म खं पुराणं वायुरं खमिति। इस परिभाषा के अनुसार ब्रह्म ख, और पूर्ण ये पर्यायात्मक हैं। इसी तत्त्व को ध्यान में रखकर गणितज्ञों ने ख और पूर्ण इन दोनों को बिंदु का सूचक माना। इसी भाव को भास्कराचार्य ने बीजगणित में अनंत की परिभाषा करते हुए अक्षरशः दुहराया है—

> अयमनन्तो राशिः खहर इत्युच्यते।
>
> अस्मिन् विकारः खहरे न राशावपि प्रविष्टेष्वपि निःसृतेषु।
>
> बहुष्वपि स्याल्लयसृष्टिकालेऽनन्तेऽच्युते भूतगणेषु यद्वत्॥

अर्थात् वह राशि अनंत कहलाती है जिसमें हर भाग शून्य या बिंदु हो। इस राशि में चाहे कितना ही जोड़ या घटा दें, कोई विकार नहीं उत्पन्न होता, जिस तरह कि अनंत और अच्युत भगवान् में प्रलय और सृष्टि के समय अनेक भूतों के संयोग और वियोग से कोई विकार नहीं होता।

इससे यह सूचित होता है कि भारतीय आचार्यों द्वारा प्रयुक्त गणित की अनेक संज्ञाएँ गणित-विज्ञान के आविर्भाव से पूर्व ही परा।विद्या के क्षेत्र में स्वीकृत थीं। अथवा इन संज्ञाओं के आधार से ही गणित की संज्ञाओं का जान बूझकर विकास किया गया जैसा कि भास्कराचार्य के ऊपर लिखे हुए उद्धरण से प्रकट होता है। यह बात भारतीय दर्शन की विकास-परंपरा के भी सर्वथा अनुकूल है। यहाँ ज्ञान के सार्वभौम विश्वव्यापी स्वरूप का अनुभव पहले किया गया, और विशेष परिस्थितियों के लिये उसका उपयोग बाद में हुआ।

भारत की एकता

उपर्युक्त विषय पर सर यदुनाथ सरकार का एक विशेष महत्त्वपूर्ण लेख 'विशाल-भारत' के भाग १०, अंक ६ में प्रकाशित हुआ है। वह यहाँ संगृहीत है।—क।

क्या भारत की कोई एकता है ? क्या भारत में ऐसे लोग हैं, जो इस या उस प्रांत के भारतीयों से विशिष्ट हों ? हमारे विचारों में यह प्रश्न आज सर्वोपरि है और हमारे देश के किसी भी समय के चिंतनशील लोगों के सामने से यह कभी नजर-अंदाज नहीं किया गया। इसका कोई सीधा-सादा-सा उत्तर दे देने के बजाय यह अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण और लाभदायक होगा कि इस संबंध में कोई मत स्थिर करने से पूर्व हम इसके सभी पहलुओं का विवेचन कर लें।

एक राष्ट्र के लोगों की एकता के तीन प्रमुख पहलू हैं—(१) भौगोलिक, (२) ऐतिहासिक और (३) सांस्कृतिक। ये तीनों पृथक् हैं और इनका आधार भी पृथक् है; किंतु आज संसार के जितने भी सुदृढ़ राष्ट्र हैं, उनमें हम इनको सम्मिलित रूप में ही पाते हैं। इन्हीं की पूर्णता 'राष्ट्रीयता'—अर्थात् पूर्ण राजनीतिक एकता—है।

आरंभ में ही हम यह कह देना चाहते हैं कि जाति और धर्म राष्ट्रीय एकता के प्रमुख अथवा सुदृढ़ आधार नहीं हैं, जैसा कि आम तौर पर खयाल किया जाता है। आज की दुनिया में जाति या रक्त की विशुद्धता एक किंवदंती-मात्र है और धर्म—जिसका कट्टरता से पालन किया जाता है—ऐक्य स्थापित करने के बजाय विभाजित करने की शक्ति बन गया है। नृतत्त्वज्ञ इस संबंध में एकमत हैं कि आज की प्रत्येक जाति कई विविध प्राथमिक जातियों के मिश्रण का ही परिणाम है, यथा—आज के एक ही जाति के मनुष्यों में आर्य और नीग्रो दोनों का रक्त है। संस्कृत-साहित्य के आर्यावर्त अथवा पंचनद का विशिष्ट ब्राह्मण भी यह दावा नहीं कर सकता कि उसकी नसों में वैदिक-काल में भारत पर चढ़ाई करनेवालों का ही विशुद्ध रक्त है। अन्य प्रदेशों में जातियों का यह मिश्रण अधिक हुआ है। लोगों के वर्ण, त्वचा, चेहरे-मोहरे आदि—जो नृतत्त्व के मुख्य तथ्य हैं—से साबित होता

है कि बंगाल की खाड़ी के दोनों तटों पर निवास करनेवाले तथाकथित द्रविड़ों एवं मंगोलों में भी नीग्रो-रक्त के मिश्रणवाले लोग पाए गए हैं। आजकल के यूरोपवासियों के पूर्वजों के रक्त मे भी नीग्रो-अंश—आधुनिक अमरीका के नीग्रो नहीं—पाया गया है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि ज्ञाति की एकता उसकी विशुद्धता पर निर्भर होनी चाहिए; पर विज्ञान की तीव्र दृष्टि में यह एक भ्रांति-मात्र है। रोम के प्रसिद्ध इतिहासकार तेसीतस ने २००० वर्ष पूर्व के जिन जर्मनों का उल्लेख किया है, आज के प्रशन और आस्ट्रियन उसी जाति के नहीं हैं। इसी प्रकार आस्ट्रियन और प्रशन भी—जो जर्मन कहलाते हैं और जर्मन भाषा ही बोलते हैं—एक ही जाति के नहीं हैं। कुछ वर्ष पूर्व लंदन के 'टाइम्स' ने लिखा था कि स्कैंडीनेवियन और बाल्टिक सागर के दक्षिणी किनारे पर बसी स्लाव जातियों के मिश्रण से ही प्रशन जाति का आविर्भाव हुआ, जिसने आगे चलकर आश्चर्यजनक क्षमता प्राप्त कर ली। इसके मुकाबले में आस्ट्रियन लोग—जो अपनी नसों में जर्मन रक्त होने का दावा करते हैं—बड़े शांति-प्रिय, आरामतलब और बुद्धिजीवी हैं।

अब धर्म को लीजिए। आदिम युग में, और एक सीमित क्षेत्र में, धर्म ने लोगों को ऐक्य-सूत्र में अवश्य बाँधा है; पर राजनीतिक एकता का आधार होने के कारण उसने विभिन्न मतों के लोगों को एक राष्ट्र के रूप में संगठित होने से रोका भी है। उदाहरण के लिये यूनान के प्राचीन नगर-गणराज्यों को लीजिए, जिनमें विदेशियों और हेलोटों (आदिम-युगीन कबीलेवालों) को नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। भारत ही को लीजिए। यदि हम धर्म के अनुसार ही इसका विभाजन करें, तो क्या हिंदुस्तान और पाकिस्तान भर से ही काम चल जायगा? इन दो विभागों में से आप श्री जिन्ना के उस नाती को कहाँ स्थान देंगे, जो कि पारसी लखपती को ब्याही गई उनकी लड़की से पैदा होगा? अतः इस सिद्धांत के अनुसार तो आपको एक 'मजूसिस्तान' और बनाना होगा, जहाँ कि पारसियों का असली घर बन सके। पर अभी आपको और भी आगे बढ़ना होगा। डा० खाँ साहब ने अपनी जो लड़की एक ईसाई अफसर को ब्याही है, उससे उत्पन्न

होनेवाले उनके नाती के लिये आपको एक 'नजीरिस्तान' भी बनाना होगा। इस प्रकार राष्ट्र को धर्म के अधीन बनाने से कितने असंख्य विभाजन और सम्मिलन करने पड़ेंगे, यह सोचकर, गणित में कमजोर होने के कारण, मेरी तो कल्पना ही लुंठित हो जाती है।

इतिहास हमें बताता है कि धर्म बहुधा एक राष्ट्रीयता-विरोधी शक्ति रहा है। राज्य के नियंत्रण के अभाव में इसने एक देश के लोगों को दो लड़ाकू दलों में विभाजित कर दिया है, जिनमें से प्रत्येक अपने देश के विधर्मियों के दमन के लिये अपने विदेशी सहधर्मियों की सहायता का इच्छुक रहा है। सूत्र-रूप में धर्म एक अंतर्राष्ट्रीय शक्ति है, अतएव राजनीति मे 'राष्ट्रीयता' से जो अभिप्राय है, उसके सर्वथा प्रतिकूल है। यूरोप के सुधार- युग में धर्म ने सभी राष्ट्रीय सीमा-रेखाओं को नष्ट कर डाला और प्रत्येक देश को लड़ाकू धार्मिक दलों में विभाजित कर दिया। फ्रांसीसी कैथोलिकों ने स्पेनिश कैथोलिकों के साथ 'पवित्र संघ' (Holy League) स्थापित किया—जो कि फ्रांसीसी राजतंत्र के वंश-परंपरागत शत्रु थे—और अपने ही देशभाइयों का खून बहाने के लिये उनको निमंत्रित किया। स्काटलैंड के प्रोटेस्टेंटों ने अपनी न्यायोचित राष्ट्रीय महारानी मेरी स्टुअर्ट की कैथोलिक सरकार को खत्म करने के लिये इँग्लैंड के उन प्रोटेस्टेंटों की सहायता ली, जिनके विरुद्ध उनके पूर्वज सदियों तक लड़ते रहे थे। फ्रांस में धर्म-युद्धों के इस युग में एक तीसरे दल का आविर्भाव हुआ, जिसने आधुनिक विचार की कल्पना की और फ्रांस को विनाश तथा विभाजन से बचाया। ये लोग 'पोलितिकस' (Politiques) नाम से पुकारे जाने लगे—अर्थात् वे लोग, जिन्होंने राष्ट्र को धर्म से भी ऊपर माना और नवारे के हेनरी का साथ दिया। इवरी के युद्ध में राष्ट्र-विरोधी कैथलिक-संघ को हेनरी चतुर्थ के सामने बुरी तरह मुँह की खानी पड़ी। इसी राजा की मनोभावना ने फ्रांस को बचाया और उसे आधुनिक रूप दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म राष्ट्रीयता के सर्वथा प्रतिकूल है और उसके द्वारा देशभक्ति असंभव है।

अब हम भारत की एकता के संबंध में विचार करेंगे। पहले उसके भौगोलिक पहलू को ही लीजिए। यदि हम भारत के प्राकृतिक मानचित्र को देखें या स्कूल के किसी सस्ते एटलस में भारत के ऐसे नक्शे को देखें, जिसमें कि ऊँचा भाग कागज पर रंग द्वारा बतलाया गया है, तो हमें पता चलेगा कि भारत शेष एशिया से एकदम पृथक् है। उत्तर, उत्तर-पश्चिम और पूर्व में भारत अन्य देशों से संसार में सब से ऊँचे पहाड़ों या सब से घने जंगलों या सबसे ऊसर पहाड़ियों द्वारा पृथक् किया हुआ है। इसके पूर्वी और पश्चिमी किनारे गहरे समुद्र द्वारा सुरक्षित हैं। किंतु भीतर से कोई भी दुर्गम पहाड़ या तीव्रगामी सरिता इस स्वतंत्र भूखंड के एक प्रांत को दूसरे से पृथक् नहीं करती। प्राकृतिक अवरोधों पर आधुनिक विज्ञान की विजय होने तथा शीघ्रगामी और सुगम यातायात के साधन प्राप्त होने से पूर्व भी अक्सर यात्री, छात्र, धर्म-प्रचारक, विजेता आदि भारत के एक भाग से सुरक्षापूर्वक दूसरे भाग में आया-जाया करते थे। यह हमारा इतिहास बतलाता है। भारत के प्राकृतिक भाग दिखलानेवाले किसी भी रंगीन मानचित्र में हम देखते हैं कि हरे रंग का एक क्षेत्र बंगाल की खाड़ी से अफगानिस्तान के दर्रों की तराई तक और दक्षिण में उड़ीसा तथा मद्रास के समुद्र-तटों तक फैला हुआ है, जो कहीं भी समुद्र से १००० फुट से अधिक ऊँचा नहीं है। थल-मार्ग से कलकत्ता लाहौर से १२०० मील दूर है; पर दोनों की ऊँचाई में केवल ९०० फुट का अंतर है। इसका मतलब यह हुआ कि एक मील पश्चिम की ओर बढ़ने पर आप केवल ६ इंच ऊपर की ओर जाते हैं। अतः ऐसे क्षेत्र को फौजी दृष्टिकोण से भी विभाजित कैसे किया जा सकता है।

कोंकण का तटवर्ती मैदान मूल महाराष्ट्र से, जिसे 'देश' कहते हैं, सह्याद्रि पर्वतमाला द्वारा अलग किया हुआ है; पर यह पर्वतमाला इतनी ऊँची नहीं है कि दोनों क्षेत्रों में यातायात या आदान-प्रदान का संबंध ही न रह सके। कोंकण के हिंदू प्राचीन काल से मराठी बोलते हैं (यह मराठी की एक स्थानीय बोली है, जिसे महाराष्ट्रवासी आसानी से समझ लेते हैं) और सह्याद्रि पर्वतमाला के दोनों ओर एक ही धर्म एवं एक-से ही रीति-

रिवाज प्रचलित हैं। इससे पता चलता है कि आधुनिक रेलों और मोटरों द्वारा विज्ञान ने प्रकृति पर जो विजय प्राप्त की है, उससे पहले भी यह पर्वतमाला दुर्लंघ्य नहीं थी। एक प्राचीन किंवदंती है कि विंध्याचल पहाड़ ने अगस्त्य मुनि को दक्षिण में जाने देने के लिये अपना मस्तक झुका लिया था, जो उसने मार्ग-अवरोध के लिये अभी तक भी ऊपर नहीं उठाया है। काबुल में मुसलमानों द्वारा विजय प्राप्त करने से पूर्व हिंदू-राजतंत्र था। कंदहार में बौद्ध गुफाएँ पाई गई हैं और अफगानिस्तान के केंद्रीय एवं उत्तरी भागों में बुद्ध की मूर्तियाँ तथा इस मत को माननेवालों के कई अन्य चिह्न पाए गए हैं। इन तथ्यों से यह धारणा निराधार साबित होती है कि अँगरेजों के आने से पूर्व प्राकृतिक अवरोधों के कारण भारतीय प्रांत एक-दूसरे से बिल्कुल अलग थे। अभी हाल ही में एक चीनी जनरल ने कहा था कि "उत्तरी भारत में जापानी टैंक कलकत्ते से लाहौर तक उतनी ही आसानी से दौड़ सकते हैं, जितनी आसानी से बिलियर्ड की हरी मेज पर हाथीदाँत की गेंद दौड़ती है।" किंतु न मालूम आज कितने राजनीतिक विभाग इन दोनों विशाल नगरों को एक दूसरे से अलग किए हुए हैं!

यह सच है कि भारत के कुछ प्रांतों की आबहवा में बड़ा अंतर है; किंतु इससे उनके निवासियों का जीवन एकदम भिन्न नहीं हो गया है। १६४० में दिसंबर के मध्य में मुझे मद्रास प्रेसिडेंसी के दक्षिण में स्थित तंजोर स्थान में ५ दिन बिताने पड़े थे। वहाँ उन दिनों भी गर्मी इतनी अधिक थी कि मुझे बिना कमीज पहने ही सोना पड़ा। यहाँ से मद्रास और बम्बई में रुके बिना ही मैं अहमदाबाद (गुजरात) आ गया। यहाँ इतनी अधिक सर्दी थी कि मेरे खूब गरम कपड़े पहनने के बावजूद प्रातःकाल मेरे टौंसिल सूज गए और नकसीर बहने लगी। पर इतने फासले पर रहनेवाले दोनों स्थानों के लोगों का भोजन लगभग एक-सा ही (शाकाहार, जिसमें उत्तर में आकर चावल के साथ गेहूँ की रोटी और जुड़ गई थी) और भोजन बनाने तथा परोसने आदि का ढंग भी लगभग एक-सा ही था। मैंने दोनों स्थानों में कोई खास भेद नहीं पाया। पर स्मरण रहे,

मैं यहाँ पुराने विचारों के हिंदुओं के घरों के भोजन का ही जिक्र कर रहा हूँ, रेलवे-होटलों में मिलनेवाले स्टैंडर्ड अँगरेजी खानों का नहीं। अतः यह स्पष्ट है कि भारतीय प्रांतों के भौगोलिक पृथक्करण की बात अतिशयोक्तिपूर्ण है।

प्राचीन भारत के संस्कृत विद्वानों ने शास्त्रीय ज्ञान की खोज में काशी और प्रयाग, कांची और पैठन, नासिक और शृंगेरी तथा मथुरा और बद्री-केदार आदि की यात्रा कर भारत के भौगोलिक विभाजन को उस समय बहुत कुछ नगण्य बना दिया, जब कि रेलों और पक्की सड़कों की कल्पना भी नहीं की गई थी। सुदूर अतीत में, जब कि भारत मे एक भी मुसलमान नहीं आया था, धर्म-प्रचारकों ने दिग्विजय करने के लिये कुमारी अंतरीप से हिमालय तक की यात्राएँ की हैं। भारत में पैदा होने और पूर्णत्व प्राप्त करनेवाले बौद्धमत के प्रचारक न केवल भारत के सभी भागों में, बल्कि चीन, तिब्बत, बर्मा, सीलोन और हिंदी-चीन तक गए हैं। इससे साबित होता है कि कम से कम उस जमाने मे भारत में सांस्कृतिक एकता थी। क्या हम मौजूदा प्रकाशपूर्ण शताब्दी में इस तरह की मस्तिष्क की उदारता में पिछड़ नहीं गए हैं?

इसके बाद ऐतिहासिक एकता का स्थान है—अर्थात् वह एकता, जो एक-से विचार और जीवन तथा एक ही शासन और एक-से राजनीतिक अनुभवों से प्राप्त होती है। केवल स्वेच्छाचारी एकतंत्र से ही लोगों को वास्तविक एकता के सूत्र में नहीं बाँधा जा सकता—कम से कम ऐसी एकता स्वाभाविक और स्थायी नहीं हो सकती। सबसे अच्छी ऐतिहासिक एकता उस समय होती है, जब कि किसी देश के लोग स्वयं एक शासन का संचालन करें और उसके हानि-लाभों को सहें; क्योंकि वह शासन उन्हीं के प्रयत्नों का परिणाम है। शासन की यह एकता भारत के अधिकांश भागों में मुगल-साम्राज्य द्वारा स्थापित हुई, जिसकी देन थे—(१) साम्राज्य के सब सूबों में एक-सा शासन, (२) एक राज-भाषा, (३) एक से सिक्के और तौल के बाँट, (४) उच्च अफसरों की एक अखिल-भारतीय व्यवस्था, जिसके अंतर्गत हर तीसरे या चौथे वर्ष उनका एक प्रांत से दूसरे प्रांत को तबादला

हुआ करता था,* और (५) सेनाओं का एक प्रांत से दूसरे को प्रयाण तथा केंद्रीय राजधानी द्वारा विभिन्न प्रांतों के नगरों में निरीक्षकों की नियुक्ति।

मुगल-कालीन शासन की इस एकता ने भारतीय भू-खंड के लगभग तीन-चौथाई भाग में परस्पर आवागमन और व्यापार को काफी उत्तेजन दिया। दिल्ली के शाही दरबार ने भी भारत में सांस्कृतिक एवं कलात्मक एकता स्थापित करने में बहुत योग दिया। समाज के उच्च वर्गों में—उदाहरण के लिये सरकारी अफसरों में—उस समय फारसी में पत्र-व्यवहार होता था और सब साधारण की आम भाषा 'जबान-ए-हिंदवी'—आधुनिक उर्दू या हिंदुस्तानी—बन गई थी, जिसने आगे चलकर (१९वीं शताब्दी में) उत्तरी भारत की सांस्कृतिक और राजकीय भाषा के रूप में फारसी का स्थान ले लिया।

किंतु इन दोनों से भी एकता की प्रबल शक्ति है संस्कृति। राजनीतिक असंबद्धता, भाषा और रीति-रिवाजों के भेदों के बावजूद पिछले २००० वर्षों के हिंदू और बौद्ध शासन ने इस विशाल देश के सभी प्रांतों के साहित्य और विचारों पर संस्कृति की एक सी गहरी छाप लगा दी है। हिंदू-युग में समूचे भारत में—जैसा कि आज भी समूचे भारत के हिंदुओं में है—धर्म, दर्शन, साहित्य, परंपराओं एवं जीवन के प्रति दृष्टिकोण में एक मौलिक एकता रही है। कुछ शताब्दी और आगे आने पर हम देखते हैं कि एक लंबे अर्से से भारत में रहनेवाले विदेशियों—जो यहीं का पानी पीते हैं, यहीं का अन्न खाते हैं, यहीं की धूप में पलते हैं और दैनिक जीवन में एक से ही शासन के अधीन हैं—और भारतीयों में शारीरिक और रहन-सहन की एकता भी काफी आ गई मालूम होती है। कई शताब्दियों तक भारत

---

* उदाहरण के लिये १६६४ में शाइस्ता खाँ को पूना से तब्दीलकर ढाका का गवर्नर बनाया गया। पाठक जरा खराब सड़कों के उस जमाने में इन दोनों स्थानों के जबर्दस्त फासले की कल्पना करें।—लेखक।

में रह चुकनेवाले प्रवासी भारतीय मुसलमान कई आवश्यक बातों में एशिया के अन्य भागों—जैसे अरब और ईरान—के मुसलमानों से बिल्कुल भिन्न हो गए हैं।

मुसलमानों के शासन-काल में भारत में चला सूफी-आंदोलन अधिक संस्कृत एवं भक्त हिंदू और मुसलमान दोनों को एक ही मंच पर ले आया। निम्न जातियों के—जो भारत की आबादी का बहुत बड़ा भाग हैं—आध्यात्मिक गुरु मध्य-युगीन संत-कवि कबीर, नानक, चैतन्य आदि ही थे, जिनके हिंदू और मुसलमान दोनों ही बहुत बड़ी संख्या में अनुयायी हुए। इससे पुराने मतों की विशिष्टता और कट्टरपन बहुत कुछ शिथिल हुए। धार्मिक कट्टरता का स्थान सच्ची भक्ति ने ले लिया, जिसने राजा और प्रजा-जनों को एक सूत्र में पिरो दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज के भारतवासी यद्यपि मिश्रित जातियों की संतान हैं, किंतु उन सब पर भारतीयता की छाप लग चुकी है, और वे सभी एक-सी संस्कृति, एक-सी परंपरा, एक-से विचार और एक-से साहित्य के निर्माण में ही योग दे रहे हैं। सर हरबर्ट रिसले तक को भी—जो भारतीयों के एकराष्ट्रीयता के दावे को बड़े संदेह की निगाह से देखते हैं—यह स्वीकार करना पड़ा है कि "किसी भी निरीक्षक को भारत में जो अनेक प्राकृतिक, सामाजिक, भाषा, रीति-रिवाज और धर्म-संबंधी विभिन्नताएँ दिखाई देती हैं, उनके बावजूद हिमालय से कुमारी अंतरीप तक भारतीयों के जीवन में एक तरह की एकता भी देखी जा सकती है। यथार्थ में एक भारतीय स्वभाव, एक आम भारतीय व्यक्तित्व है, जिसका हम उसके अवयवों के रूप में विश्लेषण नहीं कर सकते।"

पर भारत की एकता की इन प्रबल शक्तियों द्वारा उसमें राजनीतिक एकता भी स्थापित हो सकेगी या नहीं, यह कहना हमारे अधिकार के बाहर की बात है। हम तो इसके लिये केवल दुआ ही कर सकते हैं।

——

पंचांग-शोध

सभा की पंचांग-शोध-समिति ने २१-११-४२ ई० के अपने एक निश्चय के अनुसार शोध के संबंध में निम्नलिखित प्रश्न समिति के सदस्यों तथा अन्य ज्योतिष-प्रेमी विद्वानों के मत जानने लिये उनके समक्ष उपस्थित किए थे—

पंचांग-शोधन का स्वरूप-निर्णय अर्थात् पचांग में किस प्रकार के परिवर्तन हों—

(क) पंचांग दृश्य-गणनानुसार बनना चाहिए या

(ख) प्राचीन गणनानुसार ?

(ग) यदि प्राचीन गणनानुसार बने तो किस सिद्धांत के अनुसार और क्यों या

(घ) यदि आपके मतानुसार किसी उपायांतर का अवलंबन करना ठीक हो तो उसका क्या स्वरूप हो ?

(ङ) यदि दृश्य-गणनानुसार पंचांग बनेंगे तो उनसे व्रतादिक धार्मिक कृत्यों के संबंध में धर्मशास्त्रियों की दृष्टि से जो बाधाएँ उपस्थित होंगी, उनके निराकरण के लिये आपकी सम्मति में क्या उपाय होना चाहिए ?

समिति के एक सदस्य डा० गोरखप्रसाद जी ने अपने सुस्पष्ट उत्तर के साथ अपना महत्त्वपूर्ण मत फरवरी '४३ की 'सरस्वती' में प्रकाशित कराया है। वह यहाँ संगृहीत है। —क्र।

एक बरसात से दूसरी बरसात तक के समय को वर्ष कहते हैं। वर्ष और वर्षा में घनिष्ठ संबंध है; एक शब्द दूसरे से निकला है। अब्द, वत्सर, संवत्सर, शरद् ये सब पर्यायवाची शब्द भी ऋतुओं से संबंध रखते हैं। अँगरेजी में भी ऋतुओं से वर्ष-मान बताने की प्रथा प्रचलित है; उदाहरणतः, बोलते हैं 'ए चाइल्ड आफ टेन समर्स'।

एक बरसात से दूसरी बरसात तक या एक शरद् ऋतु से दूसरी शरद् ऋतु तक के वर्ष को सायन वर्ष (ट्रापिकल इयर) कहते हैं। सूक्ष्म परिभाषा यों दी जा सकती है कि सूर्य के एक उत्तरायण-आरंभ से दूसरे उत्तरा-

यण-आरंभ तक के काल को सायन वर्ष कहते हैं। (सूर्य के उत्तर की ओर चलने को उत्तरायण कहते हैं।)

परंतु वर्ष की नाप दूसरे प्रकार से भी हो सकती है। तुलसीदास ने लिखा है—"उदित अगस्त्य पंथ-जल सोखा"। इस प्रकार अगस्त्य या अन्य किसी तारे के एक उदय से दूसरे उदय तक के काल को भी हम वर्ष कह सकते हैं। इस वर्ष को ज्योतिष में नाक्षत्र वर्ष (सिडेरियल इयर) कहते हैं। सूक्ष्म परिभाषा यों दी जा सकती है कि सूर्य के किसी तारे से चलकर, एक चक्कर लगाकर, उसी तारे तक फिर पहुँच जाने के काल को एक नाक्षत्र वर्ष कहते हैं।

दुर्भाग्य की बात है कि नाक्षत्र वर्ष और सायन वर्ष ये दोनों बराबर नहीं होते। ये मनुष्य की गणना के कारण भिन्न नहीं हैं; सूर्य की गति ही ऐसी है कि दोनों में अंतर है। अंतर कम है (कुल २० मिनट), परंतु यदि बराबर एक ही प्रकार के वर्ष का व्यवहार करते रहें तो प्रतिवर्ष २० मिनट का अंतर पड़ते पड़ते एक हजार वर्षों में १४ दिन का अंतर पड़ जायगा।

अब प्रश्न यह है कि प्रतिदिन के व्यवहार के लिये हम सायन वर्ष लें कि नाक्षत्र वर्ष। यदि हम सायन वर्ष लेते हैं तो केवल यही एक असुविधा रहती है कि धीरे धीरे वर्षारंभ के दिन सूर्य के निकट पड़नेवाले तारे बदलते जायँगे; अर्थात् सूर्य किस नक्षत्र में है इसमें धीरे धीरे गड़बड़ी पड़ती जायगी। उदाहरणतः, यदि आज हम मकर-संक्रांति से वर्ष आरंभ करें तो सायन-वर्ष के व्यवहार करते रहने से आज से कोई दो हजार वर्षों में धनु की संक्रांति से वर्ष का आरंभ होने लगेगा।

परंतु यदि हम नाक्षत्र वर्ष लें तो वर्ष के हिसाब से ऋतुओं में धीरे धीरे गड़बड़ हो जायगा। उदाहरणतः, यदि हम आज ग्रीष्म ऋतु से वर्ष का आरंभ करें तो आज से दो हजार वर्ष में वर्ष का आरंभ शुरू बरसात में पड़ेगा। यदि इस समय सावन-भादों में पानी बरसता है तो आज से कोई ६००० वर्ष में सावन-भादों के महीने उस समय पड़ेंगे जब शरद् ऋतु रहेगी और कड़ाके की सरदी पड़ती रहेगी।

सुदूर प्राचीन काल में जब ज्योतिष का ज्ञान इतना अच्छा नहीं था जितना पीछे हुआ, लोग यही नहीं जानते थे कि सायन और नाक्षत्र वर्ष में कोई अंतर है। इसलिये कभी वे बरसात से और कभी तारे से वर्ष जोड़ा करते थे। भारतीय ज्योतिषियों ने वर्ष का जो मान अपनाया है वह न तो ठीक सायन है और न ठीक नाक्षत्र; क्योंकि तब समय को ठीक ठीक नापने का अच्छा साधन नहीं था। परंतु उनका वर्ष का मान लगभग नाक्षत्र मान है।

प्रश्न अब यह है कि वर्षमान के चुनाव में हम नक्षत्रों का त्याग करें कि ऋतुओं का। साधारण पुरुष चाहे वह ज्योतिष न भी जानता हो, कम से कम इतना तो कह ही सकता है कि उसे यह पसंद है कि सावन-भादों सदा बरसात में पड़ा करें या यह कि वे धीरे धीरे जाड़े की ओर खिसकते जायँ। जब से भारतीय ज्योतिष में नाक्षत्र और सायन वर्षों पर विचार हो रहा है (अर्थात् आज से कोई डेढ़ हजार वर्ष पहले से) अब तक लगभग २२ दिन का अंतर पड़ चुका है। वस्तुतः इन दिनों भादों में वह ऋतु रहती है जो कालिदास के समय कुवार में रहा करती थी। खिचड़ी का त्योहार पहले उस समय मनाया जाता था जिस दिन दिन-मान सब से छोटा होता था (अर्थात् जिस दिन से उत्तरायण का प्रारंभ होता था); अब यह कोई २२ दिन पीछे पड़ता है।

मेरी राय में सायन-वर्ष को ही अपनाना चाहिए, क्योंकि मनुष्य के जीवन के लिये नक्षत्रों की अपेक्षा ऋतुओं का कहीं अधिक महत्त्व है*। भारतवर्ष को छोड़कर सभ्य संसार में अन्यत्र सभी जगह सायन-वर्ष ही प्रचलित है।

---

* श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी की यह धारणा (विश्वभारती पत्रिका, अप्रैल १९४२) कि निरयन-गणना रखने से सुगमता होती है, नितांत भ्रम है। क्रियात्मक ज्योतिष में (समय, स्थिति आदि ज्ञात करने में) सायन नक्षत्र-स्थानों की ही आवश्यकता पड़ती है।—गो० प्र०।

दृश्य गणना

एक प्रश्न और है, वह है दृश्य और अदृश्य गणना का। ग्रहणों की गणना प्राचीन ढंग से करने पर घंटे, दो घंटे का अंतर पड़ जाता है। यदि प्राचीन गणना के अनुसार उत्तर निकला कि आज १ बजे दिन में सूर्य-ग्रहण का आरंभ होगा और आधुनिक गणना के अनुसार उत्तर निकला कि आज २।। बजे ग्रहण का आरंभ होगा तो अनुभव से देखा गया है कि आधुनिक गणित ही सर्वदा सत्य उतरता है। कारण प्रत्यक्ष है। प्राचीन गणना-प्रणाली इतनी सूक्ष्म नहीं थी कि आज लगभग डेढ़ हजार वर्ष के बाद उसी रेट से, उसी पुराने मान से, गणना की जाय और अंतर न पड़े। इसमें कोई लज्जा की बात नहीं है। यदि हमारे पास कोई ऐसी घड़ी हो जो बराबर डेढ़ हजार वर्ष तक चलती रहे और उसकी चाल में डेढ़ हजार वर्ष में कुल दो घंटे का अंतर पड़े तो यह भला लज्जा की बात होगी? यह तो अत्यंत अद्भुत घड़ी होगी। एक वर्ष चलते रहने पर ऐसी घड़ी में कुल सवा सेकेंड का अंतर पड़ेगा! हमें गर्व होना चाहिए कि हमारे प्राचीन आचार्यों ने ऐसी सच्ची गणना-प्रणाली बतलाई कि आज डेढ़ हजार वर्ष के बाद भी कुल घंटे दो घंटे का ही अंतर पड़ रहा है। हमें गर्व होना चाहिए कि भारतवर्ष में ज्योतिष उस समय भी अत्यंत उच्च स्थान पर पहुँच गया था जब योरप के लोग जंगली थे।

परंतु यह कोई गर्व की बात नहीं है कि हम अपने प्राचीन आचार्यों से आगे न बढ़ सकें—हम आज भी उसी लकीर के फकीर बने रहें। धर्म-शास्त्रियों ने न जाने कैसे यह निश्चय किया है कि प्राचीन प्रणाली को छोड़कर आधुनिक प्रणाली के अपनाने में धर्म का ह्रास होता है। परंतु सब कुछ करने पर भी साधारण जनता इस बात को स्वीकार नहीं कर सकी है कि ग्रहण के लिये स्नान १ बजे करना उचित है जब उसकी आँखों को ग्रहण २।। बजे दिखलाई पड़ता है। इस संकट से बचने के लिये धर्मशास्त्रियों ने एक युक्ति अंततः सोच ही ली है। वे कहते हैं कि ग्रहण दृश्य घटना है, इसलिये इसकी गणना आधुनिक (पाश्चात्य) रीति से होनी चाहिए*; परंतु

* इसी को दृश्य-गणना कहते हैं।—गो० प्र०।

तिथि आदि घटनाएँ अदृश्य हैं, उनकी गणना प्राचीन प्रणाली से होनी चाहिए।

मेरी तुच्छ बुद्धि में तो यह बात वैसी ही है जैसे किसी नगर में बड़े बड़े चौराहों पर पुलिसवाले यह देखने के लिये खड़े रहें कि कोई व्यक्ति रात को बिना लैंप लगाए बाइसिकिल पर तो नहीं चलता, और धर्मशास्त्री कहे कि भाई, जहाँ पुलिसवाले खड़े हों वहाँ साइकिल से उतरकर चलो, अन्यत्र साइकिल पर चढ़कर चला करो।

तिथियों में एक तिथि पूर्णिमा भी है। स्कूल के भी विद्यार्थी जानते हैं कि चंद्रग्रहण का मध्य उस क्षण पर होता है जब ठीक पूर्णिमा होती है*। इसलिये यदि तिथियों की गणना प्राचीन रीति से की जाय तो चंद्र-ग्रहण के समय पूर्णिमा की गणना की त्रुटि पकड़ी जा सकती है। इसी प्रकार सूर्य-ग्रहण के समय अमावास्या की गणना की त्रुटि पकड़ी जा सकती है। इसलिये यदि सच पूछा जाय तो दृश्य और अदृश्य घटनाओं में कोई मौलिक अंतर नहीं है; केवल ग्रहण के अवसर वे चौराहे हैं जहाँ जनता गलती पकड़ सकती है। यदि ज्योतिष में आधुनिक रीतियों का अपनाना अधर्म है तो धर्मशास्त्रियों की यह व्यवस्था कि ग्रहणों की गणना आधुनिक प्रणाली से की जाय, क्या उचित है ?

मेरी सम्मति

मेरी राय में आधुनिक रीतियों से गणना करना अधर्म नहीं है। गणित न भारतीयों का है, न पाश्चात्यों का। उसमें कोई छूत नहीं लगी है। यह कहना कि पूर्णिमा की परिभाषा ही यही है कि पूर्णिमा वह क्षण है जो अमुक प्राचीन ग्रंथ के अनुसार गणना करने पर निकले, भ्रम है। यदि यह परिभाषा दी जाय तो भविष्य में क्या होगा ? आज घंटे दो घंटे का अंतर पड़ रहा है। कुछ हजार वर्षों में दिन, दो दिन का अंतर पड़ने

* सूक्ष्म गणना के अनुसार इसमें कुछ मिनटों का अंतर हो सकता है, परंतु इतने की यहाँ उपेक्षा की जा सकती है।—गो० प्र०।

लगेगा और तब हमारे धर्मशास्त्रियों के अनुसार बने पंचांगों में पूर्णिमा उस समय लिखी रहेगी जिस समय आकाश में स्पष्ट रूप से अपूर्ण चंद्रमा वर्त्तमान रहेगा; अमावास्या पंचांगों में तब मिलेगी जब आकाश में चंद्र-कला चमकती रहेगी! तब जनता स्वयं पंचांगों को न मानेगी और तिथियों की भी वही दशा होगी जो इस समय ग्रहणों की हुई है; उस समय झख मारकर व्यवस्था देनी पड़ेगी कि तिथियों की गणना भी दृश्य-गणनानुसार ही हुआ करे। अभी अंतर केवल घंटे दो घंटे का ही है; इसलिये अभी जनता धोखे में रखी जा सकती है। अंतर के पर्याप्त बढ़ जाने पर प्रणाली बदलनी ही पड़ेगी। तब अभी से गणना शुद्ध क्यों न कर ली जाय?

भूतकाल में भी ज्योतिष में समय समय पर सुधार होता रहा है। वराहमिहिर के समय के सूर्य-सिद्धांत और पीछे के सूर्य-सिद्धांत में बहुत अंतर है। फिर, हमारे सभी प्राचीन ग्रंथों में वर्ष इत्यादि के मान एक ही नहीं हैं। यदि इनमें से कोई एक ही मान्य समझा जाय तो क्यों?

मैं तो सारे पंचांग की गणना आधुनिक प्रणाली से करने का पक्षपाती हूँ। इसमें हमारे प्राचीन ग्रंथों की कोई मानहानि नहीं है, साथ ही हम लाभ में रहेंगे—हम अपने धर्म-कर्म बिलकुल ठीक समय पर कर सकेंगे।

समीक्षा

हिंदुत्व—लेखक श्री रामदास गौड़; प्रकाशक श्री बाबू शिवप्रसाद गुप्त, सेवा उपवन, काशी; पृष्ठ-संख्या ८५८; मू० १०)

हिंदुत्व की परिभाषा करना कठिन काम है। ईसाई या इस्लाम जैसे प्रवर्तक धर्मों का लक्षण बतलाना आसान है। साधारणतः ईसा को ईश्वर का दूत या पुत्र और बाइबिल को अपनी धर्मपुस्तक मानने से कोइ ईसाई कहला सकता है। इसी प्रकार हजरत मुहम्मद को ईश्वर का दूत और कुरान को अपना धर्मग्रंथ मानने से कोई मुसल्मान समझा जा सकता है। परिभाषा का यह प्रकार हिंदू धर्म के बारे में लागू नहीं है। कारण, हिंदू धर्म किसी एक प्रवर्तक का चलाया हुआ नहीं है। यह पुरातन तथा परंपरागत धर्म है, जिसमें समय-समय पर, सभ्यता की विभिन्न अवस्थाओं में, विविध मानव-श्रेणियों के धार्मिक विश्वासों, सामाजिक संस्थाओं और रीति-रिवाजों का समावेश तथा समन्वय हुआ है। यह कोई संप्रदाय-मजहब नहीं, किंतु एक उदार सांस्कृतिक संगठन है जिसमें विविधताओं के लिये काफी स्थान है। फिर भी आचार्यों ने अनेकता तथा विविधता के मूल में रहनेवाले सार्वभौम सिद्धांतों को ढूँढ़कर उनको सर्वमान्य बनाया। इसी प्रयत्न में हिंदू धर्म की एकता है। इसी आधार पर हिंदुत्व को धार्मिक इकाई मानकर उसकी परिभाषा करने की चेष्टा की जा सकती है।

अपने विशालकाय ग्रंथ में लेखक ने हिंदुत्व का सविस्तर परिचय कराया है। यह ग्रंथ नीचे लिखे अनुसार ८० अध्यायों में विषय-क्रम से विभक्त है :—

१. हिंदू कौन है ?

२. धर्म और संस्कार

३. परंपरा और साहित्य

४-१२. वेदखंड

१३-१७. उपवेदखंड

१८-२३. वेदांगखंड

२४. रामायण खंड

२५. महाभारत खंड

२६ ४८. पुराणखंड (जैन और बौद्ध पुराण भी)

४९-५०. धर्मशास्त्रखंड

५१. तंत्रखंड

५२-६६. दर्शनखंड

६७-७७. संप्रदायखंड

७८. हिंदू-समाज का विकास

७९. चौंसठ कला

८०. उपसंहार

पहले अध्याय में यह बतलाया गया है कि 'हिंदू' शब्द का प्रयोग भारतीय-साहित्य में बहुत पीछे का है और यह नाम भारतीयों को पड़ोसी विदेशियों द्वारा प्राप्त हुआ है। ईरानी लोग सिंधु नदी की घाटीवाले प्रांत को 'हेंदु' और उसके निवासियों को 'हैंदव' कहते थे जिसका संक्षिप्त रूप आगे चलकर 'हिंदू' रह गया। इसी प्रांत से होकर भारत और ईरान के बीच आवागमन होता था। अतः इस प्रांत के द्वारा परिचित होने के कारण सारे भारतवासी ईरानियों द्वारा हिंदू समझे जाने लगे और भारतवर्ष की भौगोलिक सीमा के भीतर रहनेवाली समस्त जनता हिंदू कहलाने लगी। इस भौगोलिक परिभाषा को पश्चिम के सारे देशों ने स्वीकार किया। यहाँ तक कि इस देश के ईसाई और मुसलमान आदि भी कई देशों में 'हिंदू' नाम से संबोधित होते हैं। किंतु लेखक की दृष्टि में 'हिंदू' का केवल भौगोलिक लक्षण ही पर्याप्त नहीं है। इसलिये दूसरे और तीसरे अध्यायों में यह कहा गया है कि हिंदू होने के लिये भारतीय धर्म और संस्कार स्वीकार करना तथा उसकी परंपरा और साहित्य को अपनाना भी आवश्यक है। इस कसौटी पर कसने से जैन, बौद्ध, सिक्ख आदि अवैदिक संप्रदायों का समावेश 'हिंदू' में हो जाता है, परंतु ईसाई, इस्लाम और पारसी धर्म का नहीं क्योंकि उनका उद्गम

और परंपरा विदेशी है। हिंदुत्व की यह परिभाषा स्थिर करने में लेखक ने लोकमान्य तिलक तथा श्री सावरकर (उनकी पुस्तक हिंदुत्व देखिए) का मत स्वीकार किया है।

हिंदू साहित्य, परंपरा और धार्मिक सिद्धांतों को समझाने के लिये लेखक ने चौथे से लेकर छासठवें अध्याय तक भारतीय साहित्य का ब्यौरेवार परिचय दिया है। ग्रंथ का यह भाग धार्मिक साहित्य के इतिहास सा हो गया है। सरसठवें से लेकर सतहत्तरवें अध्याय तक विभिन्न संप्रदायों के इतिहास और उनकी विशेषताओं का दिग्दर्शन कराया गया है। अठहत्तरवें अध्याय में हिंदू धर्म की सामाजिक विविधताओं के कारणों और व्यवहारिक स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। उन्नासिवें अध्याय में चौंसठ कलाओं की गणना और अंतिम अध्याय में उपसंहार करते हुए हिंदू-धर्म की व्यापकता और उदारता की ओर संकेत करके ग्रंथ समाप्त हुआ है।

ग्रंथ में विषय-प्रतिपादन बहुत ही व्यापक तथा उदार है। फिर भी मत और शैली के संबंध में एक-दो बातें कही जा सकती हैं। हिंदू शब्द की जो परिभाषा की गई है, वह हिंदू संस्थाओं की तरह रूढ़ हो चली है। देश और जाति का संबंध आधार-आधेय का है। कहीं जाति से देश का नाम और कहीं देश से जाति का नाम पड़ता है। इतिहास की प्राथमिक अवस्था में जातियों के नाम पर देशों का नाम प्रायः पड़ता था। इसी लिये देशों को जनपद कहते थे। कुरु देश, पांचाल देश आदि ऐसे ही नाम थे। आर्यावर्त और भारतवर्ष के मूल में भी यही भाव था। किंतु भारतीय शास्त्रकारों ने आगे चल कर इनका अर्थ भौगोलिक कर दिया (मनुस्मृति में आर्यावर्त और भारतवर्ष की परिभाषा देखिए)। इतिहास के विकास के साथ जातियों का नाम देशों के नाम पर पड़ने लगा, क्योंकि अनेक जातियों के मिश्रण से देश की प्रजा किसी एक मानवश्रेणी या जाति की न रहकर भौगोलिक हो गई। नागरिकता का अधिकार प्राप्त होते ही कोई भी व्यक्ति उस देश का निवासी हो सकता है और उसकी जातीयता या राष्ट्रीयता उसी देश की हो जाती है। सम्मिश्रण की आदिम अवस्था में विभिन्न दलों में धार्मिक और जातीय विरोध संभव है। किंतु कालक्रम से पारस्परिक आदानप्रदान, सम्पर्क

और घनिष्ठता से वह विरोध मिट जाता है। हिंदू शब्द इस प्रक्रिया का अपवाद नहीं हो सकता। हिंदू शब्द भौगोलिक है और हिंदूदेश की समस्त प्रजा हिंदू है, चाहे कोई हिंदू शब्द की रूढ़ता के कारण अपने को हिंदी या हिंदुस्तानी ही क्यों न कहे। वास्तव में हिंदू, हिंदी और हिंदुस्तानी में कोई अंतर नहीं है।

अच्छा हुआ होता यदि योग्य लेखक ने भारतीय साहित्य का परिचय और संक्षिप्त करके उसके सर्वमान्य सिद्धांतों, संस्थाओं और विशेषताओं का परिचय विषय-क्रम से कराया होता। इस शैली से हिंदुत्व की कल्पना पाठक के मन पर और सफाई और गहराई से अंकित हो गई होती। खेद है कि विद्वान् लेखक का पार्थिव जीवन समाप्त हो गया। किंतु यदि इस उपयोगी ग्रंथ का द्वितीय संस्करण निकलना कभी संभव हुआ तो इस बात का ध्यान रखा जा सकता है।

संपूर्ण ग्रंथ को पढ़कर यह बिना किसी संदेह के कहा जा सकता है कि विविध विषयों से समन्वित होने के कारण यह हिंदू धर्म का विश्वकोष हो गया है। इसके लिये शिक्षित समाज स्वर्गीय लेखक का विशेष आभारी रहेगा।

सारनाथ का संक्षिप्त परिचय—लेखक श्री मदनमोहन नागर एम० ए०; प्रकाशक मैनेजर आव् पब्लिकेशन्स देहली; पृष्ठ-संख्या ५+७१+७; मूल्य १)।

बौद्ध धर्म के इतिहास में सारनाथ का वही स्थान है जो ईसाई धर्म के इतिहास में जेरूसलम और इस्लाम के इतिहास में मक्का का है। भगवान् बुद्ध ने सर्वप्रथम यहीं पर धर्मचक्र-प्रवर्तन किया था। यहीं पर भारतीय धर्म में उस प्रक्रिया का श्रीगणेश हुआ था जिसके फल-स्वरूप आर्य सत्य और आर्य धर्म का देश-देशांतर में प्रचार हुआ। इस स्थान पर प्रतिवर्ष श्रद्धालु बौद्ध और जिज्ञासु यात्री हजारों की संख्या में अपनी भक्ति के प्रदर्शन तथा उत्सुकता की तृप्ति के लिये आते हैं। ऐसे लोकप्रसिद्ध तीर्थ का जितना ही अधिक परिचय जनसाधारण को हो उतना ही उपयोगी है। अँगरेजी भाषा में सारनाथ के ऊपर कई पुस्तकें तथा निबंध लिखे गए हैं। श्री प्रो० वृंदावन-

चंद्र भट्टाचार्य के अँगरेजी में लिखित सारनाथ के इतिहास का हिंदी भाषांतर भी हो चुका है। यह सब होते हुए भी इस बात की आवश्यकता थी कि एक छोटी, सुबोध तथा सस्ती पुस्तक निकाली जाय जो बहुसंख्यक लोगों तक पहुँच सके। प्रस्तुत पुस्तक तैयार कर श्रीयुत नागर ने प्रथम दो आवश्यकताओं की पूर्ति की है। लेखक ने पुस्तक को अवतरणिका छोड़कर तीन अध्यायों में बाँटा है। पहले अध्याय में सारनाथ का संक्षिप्त इतिहास, दूसरे में प्राचीन इमारतों के भग्नावशेषों का सरसरी वर्णन और तीसरे में अजायबघर में संगृहीत प्रदर्शनों का परिचय है। अंत में सात मुख्य प्रदर्शनों के चित्र हैं जिनसे पुस्तक की उपयोगिता और रोचकता बढ़ गई है। इस प्रकार यह पुस्तक सर्वांगीण तथा सर्वसाधारण के बड़े काम की है।

पुस्तक में कुछ ऐसी बातें हैं जिनका यदि संभव हो तो दूसरे संस्करण में संशोधन हो जाना चाहिए। सारनाथ के इतिहास में (पृ० १०, ११) ऐसे निष्कर्ष निकाले गए हैं जो पुष्ट नहीं। केवल धर्मराजिका स्तूप की मरम्मत कराने से सारनाथ के ऊपर पालों का राजनैतिक अधिकार सिद्ध नहीं होता और न 'शिलालेख' से काशी प्रांत के ऊपर कलचुरी वंश का आधिपत्य। सारनाथ का मध्यकाल से लेकर १७९४ तक इतिहास बिल्कुल अछूता है। इस पर भी कुछ प्रकाश डालना चाहिए। इमारतों के वर्णन में चौखंडी स्तूप के ऊपर अकबर के शिलालेख की नागरी प्रतिलिपि और हिंदी अनुवाद देना अच्छा होता, जब कि लेखक ने अन्य उत्कीर्ण लेखों की प्रतिलिपि और भाषांतर दिया है। सारनाथ की आधुनिक इमारतों में मूलगंधकुटी विहार, महाबोधि सोसाइटी का पुस्तकालय तथा कार्यालय, बर्मी धर्मशाला, बिरला धर्मशाला, नवीनतम चीनी मंदिर और सारनाथ महादेव के मंदिर के वर्णन बिल्कुल छूट गए हैं। सारनाथ के ये अभिन्न अंग हैं। अतः इनके परिचय के बिना पुस्तक अधूरी मालूम पड़ती है।

ग्रंथ की भाषा में कुछ शब्दों का प्रयोग खटकने लायक है। 'बख्त' शब्द (पृ० ५, ६, ८, १९) वक्त (समय) के बदले प्रयुक्त हुआ है। उर्दू में बख्त (बखत) का अर्थ भाग्य होता है, समय नहीं। 'स्थापत्य' का प्रयोग मूर्तिकला के अर्थ में हुआ है (पृ० ७,५१) यह अशुद्ध है। स्थापत्य का अर्थ

भवन-निर्माण-कला है। पृ० ८ पर खूँद के बदले रौंद शब्द प्रयुक्त होना चाहिए। ऐसे दो-चार और शब्द भी पुस्तक में पाए जाते हैं जिनका प्रचार प्रचलित हिंदी में नहीं है। इनका परिमार्जन और परिवर्तन होना आवश्यक है।

प्राचीन तिब्बत—लेखक श्री रामकृष्ण सिनहा (?), बी० ए०, विशारद; प्रकाशक इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग; पृष्ठ-संख्या १८२; मूल्य ॥) ।

भारतीय पुराणों मे वर्णित यक्ष, गधर्व और किन्नरों का देश तिब्बत आज भी कुतूहल और आश्चर्य का विषय है। उसकी भौगोलिक स्थिति, निवासी, धार्मिक विश्वास, तत्त्वज्ञान, धार्मिक कृत्य, रीति-रिवाज, रहन-सहन आदि सभी विदेशियों के लिये अचंभे की वस्तुएँ हैं। पाश्चात्य और प्राच्य कतिपय जिज्ञासु यात्रियों ने तिब्बत को जानने और वहाँ से लौटकर उसका परिचय कराने की चेष्टा की है। प्रस्तुत ग्रंथ के रचयिता का यह अधिकार नहीं है, फिर भी उन्होंने एक साहसी फ्रांसीसी महिला के अनुभवों को हिंदी-भाषियों तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है। इस पुस्तक में तिब्बत की कई संस्थाओं पर प्रकाश डाला गया है, जैसे, लामा, गुंबा या धार्मिक मठ, मंत्र तंत्र, इच्छा-शक्ति और उसका प्रयोग, धर्म-गुरु तथा शिष्य-परंपरा और अध्यात्म। एक बौद्धिक यात्री के निरीक्षण से जो बातें जानी जा सकती हैं उन सब का मनोरंजक ढंग से वर्णनात्मक विवेचन किया गया है। वर्णनों के पढ़ने से स्पष्ट हो जायगा कि तिब्बती धर्म और जीवन पर मध्यकालीन भारत के हिंदू तंत्र और बौद्ध वज्रयान तथा योगाचार का कितना गहरा प्रभाव है। मध्ययुगीन बिहार और बंगाल के बौद्ध विश्व-विद्यालयों में विद्याध्ययन के लिये हजारों तिब्बती विद्यार्थी आया करते थे और भारत के बहुत से धर्मगुरु बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये तिब्बत मे निमंत्रित होते थे। तिब्बती धर्म, तत्त्वज्ञान, साहित्य तथा लिपि इसी संपर्क के परिणाम हैं। तिब्बत का रहस्योद्घाटन केवल कुतूहल के लिये ही नहीं, किंतु बृहत्तर भारत के अध्ययन के लिये भी आवश्यक है। इस छोटी सी पुस्तक से पाठकों का मनोविनोद और ज्ञान-वर्धन होगा इसमें संदेह नहीं और तिब्बत के विषय मे और अधिक जानने की उत्कंठा भी।

पुस्तक में एक-दो बातें खटकनेवाली हैं। शीर्षक कुछ भ्रामक है। इससे ऐसा मालूम होता है कि इसमें प्राचीन तिब्बत का इतिहास है, किंतु है यह आधुनिक तिब्बत के कुछ पहलुओं का पर्यवेक्षण। इसलिये कोई और उपयुक्त शीर्षक होना चाहिए था। दूसरी बात, यह नहीं जान पड़ता है कि श्री सिनहा लेखक हैं या अनुवादक। यह बात स्पष्ट होनी चाहिए। पुस्तक में भूमिका नहीं है और न तो मूल आधार का कहीं भी उल्लेख या उसके प्रति आभार-प्रदर्शन। प्रकाशक को पुरानी पुस्तकों का नवीन संक्षिप्त संस्करण निकालने के समय इस बात का ध्यान होना चाहिए।

महाभारत-मीमांसा—लेखक पं० देवीदत्त शुक्ल; प्रकाशक इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग; पृष्ठ-संख्या १७६; मूल्य ॥) ।

भारतवर्ष के अतीत को समझने के लिये महाभारत एक आकर-ग्रंथ है। इसका तो यहाँ तक दावा है कि जो इसमें है वह सारे विश्व में है, जो यहाँ नहीं वह अन्यत्र भी नहीं। चाहे इस दावे में अतिरंजन भले हो, किंतु इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि इस ग्रंथ-रत्न में इतिहास की अतुल सामग्री भरी पड़ी है। परंतु इस विशालकाय ग्रंथ को पढ़ने के लिये साधारण पाठक को पर्याप्त समय और धैर्य दोनों नहीं। अतः महाभारत के मथितार्थ को संक्षिप्त और सुलभ आकार में रखकर इस पुस्तक द्वारा सराहनीय कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक अठारह प्रकरणों में विभाजित है। इसमें महाभारत संबंधी प्रायः सभी प्रश्नों पर विचार किया गया है और उस समय की प्रजा, राज्य, समाज, धर्म, दर्शनादि का चित्र भी सरल सुबोध भाषा में अंकित है। इस छोटी सी पुस्तक में सभी मत-मतांतरों का विस्तृत समावेश नहीं हो सकता, फिर भी उनके संक्षिप्त संकेत के साथ भारतीय दृष्टिकोण से निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास किया गया है। मीमांसा वैज्ञानिक ढंग से की गई है और इसमें भारतीयता होते हुए भी दुराग्रह और रूढ़िवादिता नहीं है। इसलिये आधुनिक पाठकों के लिये यह बड़े काम की चीज है।

यह पुस्तक स्व० श्री चिंतामणि विनायक वैद्य के हिंदी महाभारत-मीमांसा का सारांश है। (अध्याय प्रायः सब के सब उन्हीं के हैं।) यह बात यद्यपि पुस्तक के आवरण के अंचल में स्वीकार की गई है, किंतु

लेखक की प्रस्तावना में इसका कहीं भी उल्लेख नहीं है। ऐसा करना केवल आभार-प्रदर्शन के लिये ही आवश्यक नहीं है किंतु अधिक जिज्ञासु पाठकों की जानकारी के लिये भी। सुलभ-साहित्य के प्रकाशन का उद्देश्य केवल ज्ञान-वितरण ही नहीं, ज्ञान-स्रोत की उद्भावना भी है। अतः स्व० वैद्य के साथ साथ उन सभी विद्वानों का संकेत प्रस्तावना में होना चाहिए जिन्होंने महाभारत के समझने-समझाने में पथ-प्रदर्शन का काम किया है। इससे लेखक के श्रेय को कुछ भी आघात न पहुँचेगा।

—रा० ब० पांडेय।

भारतीय चीनी मिट्टियाँ—लेखक श्री मनोहरलाल मिश्र; प्रकाशक विज्ञान-परिषद्, प्रयाग; सजिल्द, पृष्ठ-संख्या २८७; मूल्य १॥)।

भारतवर्ष में मिट्टी के बर्तनों का व्यवसाय एक विशेष महत्त्व रखता है। खेद है कि इस व्यवसाय के संबंध में अब तक हिंदी मे कोई पुस्तक नहीं थी। इधर विज्ञान-परिषद् प्रयाग ने इसके संबंध में दो पुस्तकें प्रकाशित कीं—एक तो 'मिट्टी के बर्तन' प्रो० फूलदेवसहाय वर्मा लिखित और दूसरी 'भारतीय चीनी मिट्टियाँ'। प्रस्तुत पुस्तक लेखक के विशेष अध्यवसाय से लिखी गई है। इस पुस्तक मे परिशिष्ट सम्मिलित करके २२ अध्याय हैं, २०वें और २१वें अध्याय में लेखक ने सीमाप्रांत, पंजाब, दिल्ली, संयुक्त-प्रांत, बिहार, बंगाल, आसाम, उड़ीसा, मद्रास, बंबई, सिंध, राजपूताना आदि सभी प्रांतों की मिट्टियों की मीमांसा की है। इन अध्यायों की जानकारी प्राप्त करके हम जान सकते हैं कि किस कार्य के लिये कहाँ की मिट्टी अधिक उपयोगी होगी। योग्य लेखक ने चीनी मिट्टी के व्यवसाय के संबंध में जितनी भी आवश्यक बातें थीं, सभी इस पुस्तक मे दी हैं। यह पुस्तक रासायनिक और औद्योगिक दोनों दृष्टियों से महत्त्व की है।

—सत्यप्रकाश।

भारतीय वैज्ञानिक—लेखक श्री श्यामनारायण कपूर; प्रकाशक साहित्य-निकेतन, श्रद्धानंद पार्क, कानपुर; पृष्ठ-संख्या ३६४; मूल्य ३)।

जीवन-चरित साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। चरित्र के निर्माण और विकास में, जीवन को ऊपर उठाकर उच्च आदर्शों के उपस्थित करने में जीवन-चरित के पठन-पाठन से बड़ी सहायता मिलती है।

संतोष की बात है कि हिंदी-साहित्य में जीवन-चरित की उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। यद्यपि अब भी अनेक ऐसे महापुरुष हैं जिनकी जीवनी हिंदी-पाठकों को उपलब्ध नहीं है।

प्रस्तुत पुस्तक में ग्रंथकार ने १२ प्रमुख वैज्ञानिकों की संक्षिप्त जीवनी लिखी है जिनमें पाँच तो इस संसार से विदा हो चुके हैं और शेष सात अभी जीवित हैं। प्रथम श्रेणी के वैज्ञानिकों में महेंद्रलाल सरकार, श्रीनिवास रामानुजम, गणेशप्रसाद, जगदीशचंद्र बसु और शाह मुहम्मद सुलेमान हैं। द्वितीय श्रेणी में प्रफुल्लचंद्र राय, चंद्रशेखर वेंकटरमण, मेघनाथ साहा, बीरबल साहनी, शांतिस्वरूप भटनागर, श्रीनिवास कृष्णा और जहाँगीर भाभा हैं।

भारत के प्राचीन साहित्य का जो थोड़ा-बहुत अंश हमें प्राप्त है उससे स्पष्ट रूप से पता लगता है कि हमारे पूर्वज आर्यभट्ट, वराहमिहिर, भास्कराचार्य, नागार्जुन, पतंजलि, चरक और सुश्रुत ज्योतिष, गणित, रसायन, दर्शन और चिकित्सा इत्यादि अनेक वैज्ञानिक विषयों के प्रकांड और अपने समय के अद्वितीय विद्वान् थे। इन महापुरुषों का आविर्भाव इस देश में तब हुआ था जब यूरोप के सारे देश अज्ञान के गर्त में पड़े हुए थे और वहाँ के अधिकांश अधिवासी जंगली मनुष्यों सा जीवन व्यतीत कर रहे थे। आज समय ने पलटा खाया है। यूरोप के देश आज विज्ञान के केंद्र बने हुए हैं। विज्ञान के एक से एक प्रकांड विद्वान् आज वहाँ विद्यमान हैं जो अपने आविष्कारों से संसार को चकित कर रहे हैं। अपेक्षाकृत थोड़े समय से ही भारत में आधुनिक वैज्ञानिक विषयों का अध्ययन शुरू हुआ है। इस थोड़े समय में ही कुछ ऐसे प्रकांड विद्वान् हो गए हैं जो अपने विषय में पाश्चात्य देशों के वैज्ञानिकों से टक्कर ले सकते हैं।

इन भारतीय वैज्ञानिकों की जीवनियों से हमें पता लगता है कि परिस्थितियों के प्रतिकूल होने पर भी स्वावलंबन, पुरुषार्थ और कुशाग्र बुद्धि के कारण इन लोगों ने वैज्ञानिक संसार में यश और प्रतिष्ठा प्राप्त की है। इन वैज्ञानिकों

से हमारे देश की संस्कृति और सभ्यता को पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में 'ऊँचा उठाने में' बड़ी सहायता प्राप्त हुई है।

इस पुस्तक में दी हुई भारतीय वैज्ञानिकों की जीवनियों से हमें उनकी विज्ञान-साधना, अन्वेषण और आविष्कारों का रोचक और प्रामाणिक वर्णन मिलता है। हिंदी में यह पुस्तक अपने ढंग की अकेली है। इससे हिंदी साहित्य के एक अभाव की पूर्ति होती है। यह पुस्तक बाल, वनिता, प्रौढ़ों, वैज्ञानिक एवं अवैज्ञानिक सबों के लिये रोचक और शिक्षाप्रद होगी। प्रत्येक विद्यार्थी के हाथ में इसकी एक प्रति रहनी चाहिए जिससे स्वावलंबन, पुरुषार्थ, आत्मत्याग, अध्यवसाय और अदम्य उत्साह की बहुमूल्य शिक्षा ग्रहण कर वह इस देश के गौरव की वृद्धि में हाथ बँटा सके।

इस पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ जाती यदि ग्रंथकार इन वैज्ञानिकों के आधुनिक विषयों—आधुनिक शिक्षा-प्रणाली, स्त्री-शिक्षा, देश का उद्योगीकरण, जात-पाँत के विचार, बाल एवं विधवा विवाह, खद्दर व्यवहार, आधुनिक समाज-संगठन इत्यादि—पर उनकी सम्मति का समावेश कर सकते।

—फूलदेवसहाय वर्मा।

आत्मचरित चंपू—लेखक स्वर्गवासी पंडित अक्षयवट मिश्र; प्रकाशक पुस्तक-भंडार, लहरियासराय; मू० १॥)।

यह बिहार के प्रसिद्ध साहित्यिक पंडित अक्षयवट मिश्र का लिखा अपना चरित है। इसमें उन्होंने अपनी संसार यात्रा में किस तरह कठिनाइयों का सामना किया और कैसे अनेक क्षेत्रों में सफलता प्राप्त की इन बातों का सरस और पुष्ट भाषा में वर्णन किया है। सब से महत्त्व की बात जो इस आत्म-चरित से स्पष्ट होती है वह उस समय के कवियों की जीवनचर्या और दरबारदारी है। इनके अतिरिक्त उसमें कोई ऐतिहासिक या साहित्यिक महत्त्व की बात नहीं है।

—श।

राजस्थान के ग्राम-गीत—संग्रह-कर्ता स्वर्गीय श्री सूर्यकरण पारीक एम० ए०; संपादक श्री रामसिंह एम० ए० तथा श्री नरोत्तमदास स्वामी एम० ए०; प्रकाशक गयाप्रसाद ऐंड सन्स, आगरा; मूल्य ।।।) ।

इधर कुछ वर्षों से ग्राम-गीतों की बहुत चर्चा चल रही है। आए दिन हिंदी के पत्रों में किसी न किसी प्रांत के ग्राम-गीतों की बानगी देखने को मिलती है।

प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका से पता चलता है कि बीकानेर के राजस्थानी साहित्य-पीठ ने राजस्थान के ग्राम-गीतों के संग्रह के लिये एक बृहद् आयोजन किया है। उस आयोजन के फलस्वरूप सूर्यकरण पारीक राजस्थानी ग्रंथ-माला का प्रथम पुष्प हमारे सामने है। इस भाग में राजस्थान की ग्रामीण जनता के गृहस्थ-जीवन-संबंधी ६३ गीतों का संग्रह है। गीतों की सरसता के विषय में इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि जो सहृदय हैं उन्हें इन गीतों में उत्तम काव्य का आनंद मिलेगा। यद्यपि टवर्ग के आधिक्य के कारण राजस्थानी भाषा कुछ कर्णकटु जान पड़ती है परंतु जिसने किसी राजस्थान-निवासी के मुख से वहाँ के गीत सुने हैं उसे उनकी सरसता का पता लगता है। वास्तव में वे बड़े मधुर होते हैं।

इन गीतों को पढ़ने से राजस्थान के ग्रामीण जीवन का बड़ा सुंदर चित्र आँखों के सामने खिंच जाता है। राजस्थान के ग्रामीण-जीवन में परिश्रम का बड़ा महत्त्व है। वहाँ भूमि कम उपजाऊ है, इस कारण वहाँ के कृषकों का जीवन बड़ा संघर्षमय है। स्त्री-पुरुष दोनों ही कठिन परिश्रम करते हैं तब किसी प्रकार अपना उदर पोषण कर पाते हैं। परंतु इस प्रकार के श्रम-पूर्ण जीवन में एक प्रकार का संतोष और आनंद होता है जो नगर के ऐश्वर्यपूर्ण जीवन में दुर्लभ है। नीचे के गीत से यह बात स्पष्ट झलकती है—

"सासू बहू म्हे चली खेत ने
लीनी गंडासी हाथ बणायी झूँपड़ी।
सासूजी तो पूला काट्या
म्हे काट्या सर ए पचास बणायी झूँपड़ी
ऊँटां ऊँटां पूला ढोया

कोई सर गाडां के मांय बणायी झूँपड़ी
म्हारे परणये छाई तिरणी
म्हारे देवरिये गूँथ्या पाल बणायी झूँपड़ी
सासू बहू मिल गारो ढो ल्यो
लीप्यो लीप्यो सारो पाल बणायी झूँपड़ी
आ झूँपड़ी म्हारो मालियो
कोई आ झूँपड़ी म्हारो मैल बणायी झूँपड़ी"

अर्थ—"हम सास बहू खेत को चलीं। हाथ में गँड़ासी ले ली। सास ने पूले काटे और मैंने पचासों सरकंडे। ऊँटों पर पूले ढोए और गाड़ों में सरकंडे। मेरे पति ने तिरणी छाई। मेरे देवर ने पाल गूँथा। हम सास बहू ने मिलकर गारा गिलोया और सारा पाल लीप डाला। इस प्रकार हमने झोंपड़ी बनाई। यह झोपड़ी हमारा महल है और यही झोंपड़ी हमारा प्रासाद। हमने झोपड़ी बनाई।"

गीतों के भावार्थ और कठिन शब्दों पर टिप्पणियाँ दे देने से पुस्तक अन्य प्रांतवालों के लिये भी उपयोगी हो गई है। परंतु कहीं-कहीं भावार्थ लिखने में प्रांतीय शब्दों का बहुत प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त टिप्पणियाँ कुछ अधिक होनी चाहिए थीं। ऊपर के गीत का जो अर्थ दिया गया है उसमें 'पूल' 'तिरणी' 'पाल' ऐसे शब्द हैं जो अन्य प्रांतों के लोगों की समझ में कठिनाई से आएँगे। अतः इन पर टिप्पणियाँ लिखना आवश्यक था। फिर भी ग्राम-गीतों के प्रेमियों को इन गीतों के रसास्वादन में कोई बाधा नहीं पड़ती।

हाँ, पुस्तक की लिपि के संबंध में कुछ कहना है। इसमें 'ए' और 'ऐ' के स्थान पर 'अे' और 'अै' का प्रयोग किया गया है। जब तक हिंदी की प्रधान संस्थाएँ जैसे काशी-नागरीप्रचारिणी सभा तथा हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग नागरी वर्णमाला में कोई संशोधन नहीं स्वीकार करती हैं तब तक इस प्रकार की विभिन्नता लाना और लिपि के संबंध में बहुमत होना हिंदी के हित के लिये घातक है। इसी प्रकार 'इन्होंने' सर्वनाम के स्थान पर 'उनने' का प्रयोग खटकता है।

—रमापति शुक्ल।

छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का परिचय—संग्रहकर्ता श्यामाचरण दूबे; प्रकाशक ज्ञानमंदिर, छत्तीसगढ़, पृष्ठ-संख्या ७४ मूल्य ।≈) ।

इस छोटी सी पुस्तिका में, जैसा कि इसके नाम से ही प्रकट होता है, संग्रहकर्ता ने छत्तीसगढ़ के प्रचलित लोकगीतों से पाठकों का केवल परिचय ही कराने का प्रयास किया है ।

लोकगीतों को बहुत काल तक केवल ग्रामीणों और अशिक्षित जनता की संपत्ति समझकर उपेक्षा की दृष्टि से देखा जा चुका है। किंतु अब ऐसी भावना नहीं रही। आज तो शिक्षित समुदाय को भी अपनी भाषा में लोकगीतों के संग्रह का अभाव खटकने लगा है और कितने ही लोग इनके संग्रह में तन, मन और धन से संलग्न हैं। इस क्षेत्र में इस जागृति ही का यह प्रभाव है कि आज छत्तीसगढ़ के भी लोकगीतों का हम परिचय पा रहे हैं।

संग्रहकर्ता ने अपने संग्रह को रोचक और प्रभावोत्पादक बनाने का यथेष्ट प्रयत्न किया है, थोड़े ही में उसके पूरे रूप को कुशलता से अंकित करना चाहा है। छत्तीसगढ़ मुख्यतः एक कृषि-प्रधान और श्रमजीवियों का ही क्षेत्र है। अतः संग्रहकर्ता का इस पुस्तक में प्रायः उन्हीं गीतों को लेने का आग्रह रहा है जिनमें उनके गायकों की आत्मा निहित है। रात्रि के समय कोई कृषक गाता है :—

"जीयत जनम लेबे, हाँसि लेबो खेलि लेबो,
मरे ले दुलभ संसार ।"

अर्थात्—हमने जीने के लिये ही जन्म लिया है। हम जीवन में हँसेंगे, खेलेंगे। मरने पर यह संसार दुर्लभ हो जाएगा।

सुखवाद की इस दृढ़ भावना को लेकर ही आज भारत का आर्त्त और श्रांत किसान अपने जटिल जीवन में भी गाता रहता है। इन श्रमजीवियों के जीवन में संगीत ही ऐसी वस्तु है जो उन्हें कुछ क्षणों के लिये सारे दुःख-द्वंद्वों से दूर हटा सुख की अनुभूति दे जाती है। इसी लिये ही तो उन्होंने जीवन के पग पग पर संगीत का सहारा लिया है। ऋतु-परिवर्तन, पर्व, उत्सव, संस्कार आदि अवसरों पर उनके भिन्न भिन्न प्रकार के गीत हैं जिन्हें गाकर वे समय-विशेष पर प्रकृति के

साथ अपने हृदय का सामंजस्य स्थापित करते हैं। कभी वे नाच के साथ गाते हैं, कभी कोई बाजा बजाकर और कभी केवल उनकी कंठ-लहरी ही लय-तान रचती है। कभी कभी वे अपने यहाँ प्रचलित किसी कथा-विशेष को भी गीत की लय में बाँध लेते हैं और फिर उसका गान भी गीत-शैली पर होता है। जैसे इस ओर 'श्रवणकुमार' 'भर्थरी' आदि की कथाएँ जनता में गाई जाती हैं उसी प्रकार छत्तीसगढ़ में 'ढोला गीत' भी गाया जाता है जिसमें 'ढोलामारू' की कथा चलती है। निरंतर गाए जाते कुछ गीतों पर तो उनकी जाति-विशेष का एकाधिकार सा हो जाता है। इन प्रवृत्तियों को देखते हुए संग्रहकर्ता ने इस पुस्तक में गीतों का क्रम बहुत कुछ उनकी अनेकरूपता की दृष्टि से रखा है। शैली, जाति और समय के अनुसार ही इसमें गीतों के अनेक रूपों का परिचय हमें मिलता है। वैसे यदि 'कर्मा' 'बीरम' और 'बाँसगीत' केवल जाति-विशेष के ही हैं तो 'ददरिया' 'सुआ गीत' आदि सभी जाति के अपने समझे जा सकते हैं। 'सुआगीत' यदि दीपावली पर्व पर गाया जाता है तो 'सोहर' केवल जन्म के अवसर पर ही। इसी प्रकार 'नचौरी' यदि नाच के साथ चलती है तो 'बाँसगीत' बाँसुरी पर।

संग्रहकर्ता ने सब प्रकार के गीतों के उदाहरण यद्यपि अपनी समझ से बहुत सुंदर और चुने हुए ही प्रस्तुत किए हैं फिर भी इसमें उसे यथेष्ट सफलता नहीं मिल सकी है। जब गीतों का केवल परिचय ही कराया जा रहा था तो कुछ ऐसे चुने उदाहरण ही देने थे जो अपनी भाव-सरसता और मार्मिकता से पाठकों के हृदय को सहज ही आकृष्ट कर सकते। किंतु इस पुस्तक में तो ऐसे उदाहरणों का दो-एक स्थलों को छोड़ अभाव ही है। 'ददरिया' की निम्नलिखित पंक्तियों में चोंगी (पत्ते की बनी नली) के जलने के साथ विरही नायक की मनःस्थिति का साम्य बड़ा सुंदर बन पड़ा है —

"अरे, चोंगी रे पिये उलज झोइया,
मेंहर सुररि सुररि के होवत हों कोइला।"

परंतु लेखक की ऐसी सौंदर्य-रुचि सर्वत्र नहीं लक्षित होती है। संस्कार के समय गाए जानेवाले गीतों के उदाहरण तो नितांत नीरस हैं।

गीतों के उदाहरणों के साथ साथ उनके हिंदी अनुवाद भी संग्रह में दिए गए हैं। इससे समझने में सुविधा हुई है। पूरी पुस्तक के पढ़ लेने पर पाठक छत्तीसगढ़ में गाए जानेवाले सभी प्रकार के गीतों से अभिज्ञ तो अवश्य हो जाता है, किंतु सरस मार्मिक उदाहरणों की विरलता के कारण उसका हृदय गीतों के स्निग्ध मार्मिक प्रभाव से प्रायः अछूता ही रह जाता है।

परंतु इस ओर संग्रहकर्ता की यह रुचि और उत्साह स्तुत्य ही है और उसका यह दावा कि वह एक नवीन एवं मौलिक वस्तु लेकर साहित्य के संसार में उपस्थित हुआ है सर्वथा उचित है।

—रामकिशोरी एम० ए०।

—

जैन साहित्य और इतिहास—लेखक पं० नाथूरामजी प्रेमी; प्रकाशक श्री हेमचंद्र मोदी, हिंदी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई; पृष्ठ-संख्या ६०० से अधिक, मूल्य ३) ।

प्रस्तुत पुस्तक में जैनाचार्य श्री देवनंदि, आशाधर, शाकटायन, देवसेन, अमितगति, हस्तिमल्ल, वादिचंद्र, महाकवि पुष्पदंत, प्रभाचंद्र, स्वयंभु, वादिराज, श्रुतसागर, मल्लिषेण, जिनसेन शुभचंद्र, अनंतकीर्ति, अमृतचंद्र, महाकवि धनंजय महाकवि वादीभसिंह, वाग्भट वादिराज आदि ग्रंथकारों का तथा अनेक जैन ग्रंथों का तुलनात्मक ऐतिहासिक विवेचन करके उनका समय निर्धारण किया गया है तथा अन्य भी अनेक विषयों की खोज करके उनका निरूपण किया गया है। पुस्तक के लेखक पं० नाथूरामजी प्रेमी हिंदी-संसार के सुपरिचित सिद्धहस्त लेखक तथा पुस्तक-प्रकाशक हैं। अब से बहुत समय पहले आपके संपादकत्व में 'जैन हितैषी' नाम का एक उच्च कोटि का मासिक पत्र प्रकाशित होता था। उसमें समय समय पर प्रेमीजी अपने खोजपूर्ण लेख प्रकाशित किया करते थे। आपके वे लेख जैन इतिहास के विद्यार्थियों के लिये 'प्रकाश-स्तम्भ' थे। अपने उन्हीं लेखों का संकलन प्रेमीजी ने इस पुस्तक के रूप में निबद्ध किया है और परिमार्जन तथा संवर्धन के साथ ही साथ अपने अन्य भी कई महत्त्वपूर्ण लेखों को इसमें स्थान दिया है। जैन साहित्य के इतिहास

के प्रेमियों के लिये यह पुस्तक बहुत ही उपादेय है। अभी तक दि० जैनाचार्यों के बारे में इस ढंग की कोई भी पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई थी। इस पुस्तक से दि० जैन साहित्य को एक बहुत बड़ी कमी की तो आंशिक पूर्ति हुई ही है, साथ ही साथ हिंदी साहित्य को भी इससे श्रीवृद्धि हुई है। प्रेमीजी की भाषा, शैली और चित्रण के संबंध में कुछ कहना बेकार है। पुस्तक को पढ़ने में उपन्यास का सा आनंद आता है और पाठक सरलता से इतिहास की वस्तु को हृदयंगम करता हुआ चला जाता है। कागज, छपाई, जिल्द वगैरह भी पुस्तक के अनुरूप ही सुंदर हैं। इस सुंदर पुस्तक के प्रकाशन के लिये हम श्री हेमचंद्रजी मोदी को बधाई देते हैं और साहित्य तथा इतिहास के प्रेमी पाठकों से एक बार इसे पढ़ डालने का अनुरोध करते हैं।

—कैलाशचंद्र शास्त्री।

बच्चों की कुछ समस्याएं—लेखक श्री कालूलाल श्रीमाली, एम० ए०, बी० टी०; प्रकाशक विद्या-भवन उदयपुर (राजपूताना); पृष्ठ-संख्या ३०१, कागज और छपाई बहुत अच्छी, मूल्य १॥)।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक मनोविश्लेषण के साहित्य के कोरे पंडित ही नहीं हैं, बल्कि मनोविश्लेषण करने में भी निष्णात हैं और भारतीय मनोविश्लेषण-सभा द्वारा इसके लिये अधिकार प्राप्त किए हुए हैं। आपको बालकों के वास्तविक जीवन का जितना अनुभव है उतना भारत में कम व्यक्तियों को है। यह बात उनके द्वारा संपादित 'बालहित' नामक प्रसिद्ध पत्र से और उनके द्वारा लिखित प्रस्तुत पुस्तक से स्पष्ट है। यह पुस्तक हिंदी भाषा में विशेष बहुमूल्य है। इसका अध्ययन और उपयोग सभी माता-पिताओं और शिक्षकों को करना चाहिए।

यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि यद्यपि हम सभी किसी समय बालक रह चुके हैं तथापि हमारा बाल-मनोवृत्ति-संबंधी ज्ञान बहुत ही कम तथा बहुधा गलत होता है। हम अपने शैशव को शनैः शनैः इतना भूल जाते हैं कि जब हम माता-पिता और अध्यापक होते हैं तो शिशु-प्रवृत्तियों से सर्वथा नहीं तो बहुत अंश तक अपरिचित हो जाते हैं। इसी कारण

इस बच्चों के मनोभावों को समझने और उनके साथ यथोचित बर्ताव करने में असफल रहते हैं। बच्चों की मनोवृत्तियों को वे ही लोग समझ सकते हैं जो वैज्ञानिक रीति से उनको समझने का प्रयत्न करते हैं। श्री-माली जी इस विषय के अधिकारी ज्ञाता हैं। अतएव उनकी यह पुस्तक प्रत्येक माता-पिता और अध्यापक को पढ़नी चाहिए और इसमें वर्णित सिद्धांतों को अपने अनुभव की कसौटी पर कसकर उनका उपयोग करना चाहिए। पुस्तक में इन विषयों पर प्रकाश डालने का यथेष्ट सफल यत्न हुआ है—बच्चों की दुनिया, बच्चों के खेल और खिलौने, बच्चों में भय, चिढ़नेवाला बच्चा, चिढ़ानेवाला बच्चा, पिछड़नेवाला बच्चा, अपराधी बच्चा, कुटुंब में बच्चे की शिक्षा, बच्चे का दूध छुड़ाना, आदत, युवा, काम-शिक्षा, बच्चा और धन, स्कूल में बच्चों की शिक्षा, सह-शिक्षा, मर्यादा-पालन और शिक्षा और समाज।

इन विषयों पर अध्ययन और प्रयोग के फलस्वरूप अपने विचार श्रीमाली जी ने इस पुस्तक में बड़ी सरल और सुंदर भाषा में रखे हैं। स्थान-संकोच के कारण उनका उदाहरण और विमर्श यहाँ उपस्थित नहीं किया जा सकता। मैं श्रीमाली जी के विचारों से बहुत सहमत हूँ और आशा करता हूँ कि पाठक भी उनको बहुत पसंद करेंगे।

श्रीमाली जी से मेरा अनुरोध है कि वे बाल-मनोविज्ञान पर एक पूरी पुस्तक लिखकर भारतीय बालकों के प्रति अत्यावश्यक उपकार करें।

—भी० ला० आत्रेय एम० ए०, डी० लिट०।

आधुनिक कवि—महादेवी वर्मा एम० ए०, देव पुरस्कार ग्रंथावली (१); प्रकाशक हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग; मूल्य १।।)।

अंतर्भावाभिव्यंजनकारी आमुख सहित अपनी ही अभिरुचि द्वारा स्वयमेव चयन की हुई निज उत्कृष्ट रचनाओं का आकलन कवि की आत्मा का जितना निकट से परिचय दे सकता है, उसकी कृतियों का उतना स्पष्ट आभास अन्य किसी भी स्थिति में सुलभ नहीं है। इस आदर्श की प्रेरणा

से, उनकी हस्तलिपि के नमूने और प्रतिकृति के पेंसिल-रेखाचित्र सहित, आज के प्रतिनिधि कवियों की रचनाओं का संग्रह साहित्यानुरागी जन को वर्तमान काव्य-धारा के मार्मिक अध्ययन में विशेष सुविधा प्रदान करेगा इसमें संशय नहीं है। सम्मेलन का यह प्रयास प्रशंसनीय है।

जीवन के चिरंतन रमणीय सत्य को अव्यक्त के रहस्य-गुल्म से व्यक्त के वासंती अजिर में खोज लानेवाली जो अंतर्भेदिनी दृष्टि महादेवी ने पाई है वह वर्तमान कवियों में अन्य किसी के पास नहीं है। युगांतर समुपस्थित करनेवाले कवि कम हुआ करते हैं। युग-प्रवर्तक 'प्रसाद' को खो देने के बाद सबकी आशान्वित दृष्टि नूतन काव्य-धारा की प्रतिनिधि जिस कवित्रयी—पंत-निराला-महादेवी—पर ठहरी उनमें ऊँची भावना, चिंतन और पूत राग के विमल समन्वय की दृष्टि से महादेवी का स्थान आज श्रेष्ठ है। समय के प्रवाह में पड़कर बह जानेवालों के बीच श्रद्धामयी महादेवी की अमर चेतना जड़ एवं विनाशी बुद्धिवाद के प्रबल झंझावात में आज भी अविचल है। उनकी वेदना अब भी अपनी पलकों में किसी रहस्यमय का सुकुमार स्वप्न पाल रही है—

"मैं पलकों में पाल रही हूँ यह सपना सुकुमार किसी का।"

उनकी पलकों का यह स्वप्न जीवन के उस अनन्य सत्य से साक्षात्कार करने पर स्वयं सच होकर रहेगा इसमें संदेह नहीं है।

उनके आत्मनिवेदन के जीवन-श्रमहारी ये निमिष उन्हीं (प्रियतम) को बार बार अर्पित हैं 'जिनके निकट उनका कुछ मूल्य है।' उन्होंने अपने 'दृष्टि-कोण' में यह स्पष्ट कर दिया है कि "जिस विद्युत् के भार से कठोर पृथ्वी फट जाती है उसी को बादल की सजलता अपने प्राणों का आलोक बनाए घूमती है।" व्यथा की करुणा से आर्द्र उनके हृदय का प्रत्येक निभृत कोण इस सजग विश्वास से भरा है। कला में इसी विश्वास की व्यंजना उनका साहित्य है। सुंदर मनोवैज्ञानिक अध्ययन, गंभीर मनन और सूक्ष्म विवेचन से भरी, साहित्य की एक स्थायी जागीर, इस भूमिका में उन्होंने अपनी बात के निवेदन के अतिरिक्त आधुनिक काव्य में प्रचलित अनेक विभ्रांत वादों और परुष संघर्षों का सहृदयता से और रहस्यवाद-छायावाद

की प्रस्तुत भाव-सरणि पर चलाए गए कुटिल आक्षेप-कंटकों का फूलों से उत्तर दिया है। साहित्य में सुंदर सुंदर परिभाषावाले ऐसे रमणीय प्रबंध कम हैं।

आकलित कविताओं के संबंध में बहुत कुछ शस्ति-प्रशस्ति के रूप में कहा जा चुका है। ये सब की सब इतनी ललित और मधुर हैं कि इनमें भेद उत्पन्न कर किसी को घट-बढ़कर बताना सहृदयता के बाहर की बात होगी। उनकी हस्तलिपि में विन्यस्त कविता—

"पंथ रहने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला" जिसमें महादेवीजी "मोतियों की हाट औ चिनगारियों का एक मेला" लगाती चली गई हैं, उनके अंतर्भावों की एक परछाईं ही सी है। इतना तो निश्चित है कि अन्य साहित्यों की उत्कृष्ट रहस्यवादी कविताओं की तुलना में, जिसके लिये न यहाँ समय है और न स्थान, ये कविताएँ किसी से भी भावना की ऊँचाई और व्यंजना की मधुरिमा में घटकर नहीं हैं। बीसवीं सदी की इस मीरा को इस पुस्तक-माला में जो प्रथम स्थान मिला वह सब भाँति उचित ही है।

—रा० ना० श०।

——

भारतवर्ष का इतिहास (आदियुग से गुप्त साम्राज्य के अंत तक)—लेखक पं० भगवद्दत्त बी० ए०, लाहौर; प्रकाशक वही, वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट, लाहौर; प्रथम संस्करण १९४०, साँची—७½"×१०", पृष्ठसंख्या ५+३६२, मोटा कागद, पक्की जिल्द, मूल्य १५)।

नंदवंश के पूर्व का भारतीय (१) राजनैतिक इतिहास, (२) राजाओं की वंशावलियाँ और (३) उनका कालानुक्रम बड़े ही विवाद का विषय है। एक ओर विद्वानों का वह दल है जो कहता है कि उस लंबे युग का कोई इतिहास प्रस्तुत करना असंभव है। वैदिक साहित्य में राजाओं के अनेक नाम अवश्य मिलते हैं, किंतु वे न तो कालानुक्रम से बैठाए जा सकते हैं, न उनका राजनैतिक इतिहास ही प्राप्त है। फलतः

हम उस काल का केवल सांस्कृतिक इतिहास निर्माण कर सकते हैं और राजनैतिक इतिहास की कुछ प्रथाओं तथा जनपद-सीमा आदि को ही जान सकते हैं। दूसरा पक्ष इसका प्रतिषेध करता है। वह कहता है कि वे पुराण-इतिहास—अष्टादश पुराण और रामायण, महाभारत—हैं क्या? इनका वर्तमान रूप चाहे जो हो, मूलतः इनमें प्राचीनतम काल से लेकर महाभारत-काल तक का इतिहास और वंशानुक्रम निहित है जिनके आधार पर उस काल का इतिहास खड़ा किया जा सकता है और समयावली भी बनाई जा सकती है। यही नहीं, कुछ देशी और विदेशी विद्वानों ने इस ओर स्तुत्य प्रयत्न किया भी है। इनमें सर्वश्री त्र्यंबक गुरुनाथ काले, पार्जिटर, हरप्रसाद शास्त्री, सीतानाथ प्रधान, किर्फेल, जायसवाल और जयचंद्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

पार्जिटर ने तो अकाट्य युक्तियों द्वारा पुराणों की प्रामाणिकता ही नहीं प्रतिपादित की है, उनके सहारे उस लंबे काल के इतिहास का निर्माण भी किया है और निर्विवाद रूप से दिखा दिया है कि तथाकथित संहिता-काल, ऐतिहासिक काव्य-काल, ब्राह्मण-काल, उपनिषद्-काल आदि नामकरण भ्रामक एवं सदोष हैं। वस्तुतः इनका समय बहुत कुछ एक दूसरे को छोपे हुए है जिसका ठीक ठीक समीकरण और 'दरेसी' पुराण-इतिहास के प्रकाश और रोलर द्वारा ही संभव है।

हाल में ही पंजाब के ख्यातनामा विद्वान् और वैदिक पंडित श्री भगवद्दत्त बी० ए० ने इस विषय में बहुत ही स्तुत्य प्रयत्न किया है और इतना नया मसाला बटोर दिया है जिससे विद्वानों का बहुत उपकार संभव है। समीक्ष्य इतिहास के रूप में यह मसाला उन्होंने सुलभ कर दिया है। कितनी ही आर्थिक कठिनाइयों का सामना करते हुए भी उन्होंने इस पुस्तक का प्रकाशन कराया है और अब भी वे बराबर इस प्रकार की सामग्री बटोरने में जुटे हुए हैं। उनका विचार है कि समय अनुकूल होते ही उसे भी जनता के समक्ष उपस्थित कर दें।

प्रस्तुत पुस्तक के सब निष्कर्षों से सहमत होना संभव नहीं। इन निष्कर्षों के संबंध में यह भी पाया जाता है कि कहीं कहीं विद्वान् लेखक

ने तथाकथित देशी-विदेशी दृष्टिकोण से आशंकित होकर अपने पूर्ववर्ती पथिकृत् आचार्यों पर व्यर्थ आक्रमण किया है। किसी से सहमत होना या न होना दूसरी बात है, व्यर्थ उसे दोषी बना देना दूसरी। फिर भी यह बात निःसंकोच रूप से कही जा सकती है कि इस कृति द्वारा विद्वान् लेखक ने भारतीय अनुशीलन को आगे बढ़ाया है और हमें ऐसी सामग्री दी है जो अब तक अप्राप्त थी और जिससे अपने विगत के पुनर्निर्माण में हमें बहुत कुछ सहायता मिल सकेगी। इस स्तुत्य कार्य के लिये श्री भगवद्दत्तजी को बधाई है और उनके इतिहास का हार्दिक स्वागत।

पुस्तक में शब्दानुक्रमणी की कमी बहुत खटकती है। उसके बिना पुस्तक का वास्तविक उपयोग असंभव-सा हो जाता है। अगले संस्करण में वह अवश्य लगा देनी चाहिए।

संत-समागम—एक ब्रह्मनिष्ठ संत के उपदेश—प्रकाशक रायबहादुर मदनमोहन वर्मा एम० ए०, सेक्रेटरी बोर्ड आव हाई स्कूल एंड इंटरमीडिएट एजूकेशन, राजपूताना, सेंट्रल इंडिया एंड ग्वालियर, अजमेर; पृष्ठ-संख्या २५७; मूल्य १) ।

संतों की पूजा संसार सदा ही से करता चला आया है। गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है 'संत समागम सम न लाभ कछु आन'। कुटी में बैठने के बजाय पुस्तकों में बैठकर संत लोगों ने अधिक उपकार किया है। इस प्रकार उनका प्रभाव उनके नश्वर भौतिक जीवन का अतिक्रमण कर काल की उपेक्षा करता दीख पड़ता है। 'संत-समागम' इसी कोटि की पुस्तक है। महात्मा जी ने अपना नाम न देकर ठीक ही किया है, कारण कि त्रिकाल का सत्य कहनेवाला 'दिक्कालाद्यनवच्छिन्न' ही हो सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक कोई सुसंबद्ध आध्यात्मिक ग्रंथ न होकर विविध प्रश्नों के उत्तर-रूप में है। इसमें केवल धार्मिक प्रश्नों का ही अंतिम उत्तर नहीं दिया गया है, बल्कि समाज, राजनीति, आचार-विचार संबंधी प्रश्नों पर भी उसी आदर्श भारतीय दृष्टिकोण से विचार किया गया है। वर्तमान युद्ध के बारे में (पृ० ८५) महात्मा जी का कहना है—

"राष्ट्र अथवा समाज अथवा व्यक्ति विषयासक्ति के कारण उस सुख को स्वीकार करता है जो किसी का दुःख होता है। अर्थात् किसी को दुःख देकर सुख लेता है।......जिस सुख का जन्म ही दुःख से हुआ है वह अंत में महादुःख के सिवाय और क्या होगा?......पशुबल से अभिमानी राष्ट्र आदि उन दुखियों के संकल्प की ओर देखने की दृष्टि बंद कर लेते हैं। परंतु उन्हीं दुखियों के संकल्प से पशुबल के अभिमानी राष्ट्र, समाज तथा व्यक्ति के मिटाने के लिये शक्ति उत्पन्न हो जाती है। बस, यही वर्तमान युद्ध का कारण है।"

अध्यात्म क्षेत्र में तो महात्मा जी के वाक्य 'नावक के तीर' की नाईं हृदय में पैठ कर कसकते रहते हैं। यदि इनका ध्यान सदा बना रहे तो व्याकुलता—जिसको जाग्रत करने, पैदा करने, बढ़ाने का उपदेश प्रसंगवश कई स्थलों पर (पृ० ११०, १७१, २३९) किया गया है—स्वतः उत्पन्न होकर ठिकाने लगा सकती है।

साधारण पाठकों को सहसा इस बात का विश्वास नहीं हो सकता कि ये सब विचार किशोरावस्था में अंधे होकर इधर उधर ढुलकते हुए व्यक्ति के हैं जिसने किसी 'थोथी पोथी' को नहीं पढ़ा है पर जिसके प्रत्येक शब्द का समर्थन सभी काल तथा सभी देशों के ग्रंथ-शिरोमणि करते हैं।

संत-समागम के छपने से कम से कम यह तो स्पष्ट हो गया कि भारत में जो आज चतुर्दिक् जाग्रति हो रही है उसमें साधु-समाज पीछे नहीं है। 'विशेष ज्ञान रखने के कारण ब्राह्मण जगद्गुरु कहलाता है...सच्चा संन्यासी ब्राह्मण का भी गुरु कहलाता है'—पृ० २९। भारत के लिये वह सौभाग्य का युग होगा जब ऐसे पूजनीय महात्मा जगह जगह अनायास मिल जाया करेंगे। जब तक ऐसा नहीं होता, हम लोगों को 'संत-समागम' ही से काम चलाना चाहिए। इसके लिये उक्त महात्माजी के अतिरिक्त रायबहादुर श्री मदनमोहनजी वर्मा भी हम लोगों के धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने 'कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधा हूँ।'

पुस्तक की छपाई और तैयारी प्रशंस्य है। एक खटक अनुक्रमणिका का अभाव है। आशा है, अगले संस्करण में इसे जोड़कर पुस्तक का संपादन यथेष्ट पूर्ण कर दिया जायगा।

—(राय) कृष्णदास।

प्रूफ-रीडिंग—लेखक तथा प्रकाशक श्री विष्णुदत्त शुक्ल; शुक्ल प्रेस, ७।१ बाबूलाल लेन, कलकत्ता ; पृष्ठ-संख्या ५२, मूल्य ।ु ।

संवत् १९९५ की ना० प्र० पत्रिका में पृष्ठ ४४३-४४४ पर 'मुद्रण-प्रवेश और कंपोज-कला' की समीक्षा की गई थी। उक्त पुस्तक में लगभग १८ पृष्ठों में प्रूफ-संशोधन का ब्योरा सचित्र समझाया गया है और इस पुस्तिका में भी उसी विषय का वर्णन है। इसमें प्रूफ-संशोधन का आरंभिक इतिहास भी दिया गया है।

जो लोग प्रूफ-संशोधन का कार्य सीखना चाहते हों उनके लिये यह पुस्तिका सहायक का काम दे सकती है। प्रूफसंशोधन के अतिरिक्त उस कार्य से संपर्कित और और बातें भी समझाई गई हैं जिससे संशोधक को सहायता मिलेगी। हिंदी में संशोधन का कार्य प्रायः अल्पशिक्षित लोग ही करते हैं। बात यह है कि इस पेशे में पारिश्रमिक स्वल्प मिलता है, दूसरे इस पेशे का तादृश समादर भी नहीं, इससे शिक्षित व्यक्ति इस ओर कदाचित् ही आता है। पर अँगरेजी में यह बात नहीं है। इस विषय में प्रसिद्ध लेखक चार्ल्स डिकंस की सम्मति देखिए—"थोड़े से व्यावहारिक अनुभव के बाद मैं यह समझ पाया हूँ कि प्रूफ-रीडर के कर्तव्य क्या हैं और वह इन कर्तव्यों का पालन कितनी सावधानी से करता है।... उसका काम यंत्रों के काम की भाँति निर्जीव नहीं है प्रत्युत उसके काम में स्वाभाविक बुद्धिमत्ता, उच्च रीतिमत्ता, खोज निकालने की तत्परता, तीव्रातितीव्र स्मरण शक्ति और बारीक सूझ की बड़ी आवश्यकता पड़ती है। मैंने जो किताबें लिखी हैं उनमें जो छोटी मोटी गलतियाँ, असंगतियाँ आदि छूट गई थीं उन्हें संशोधकों ने सुझाया और तब मैंने ठीक किया। संभवतः मेरी ही भाँति अन्य लेखक-लेखिकाओं को भी प्रूफ रीडरों से लाभ हुए होंगे।" ऐसी योग्यता के संशोधक हिंदी में स्वल्प मिलेंगे और उनके परिश्रम को समझनेवाले तो और भी कम निकलेंगे।

'प्रूफ-रीडिंग' में जिस विषय का प्रतिपादन है उसका असली प्रयोग उसमें कम हुआ है। यह बड़े खेद की बात है। प्रायः प्रत्येक पृष्ठ में छापे की भूलें हैं। प्रूफ-संशोधन के उदाहरण के लिये जो ब्लाक छापा गया

है उसमें लक घु के स्थान पर धु है। फिर भी पुस्तक की उपयोगिता स्वीकार करनी पड़ती है।

—ल० पां०।

हिंदी नाट्य साहित्य—लेखक श्री ब्रजरत्नदास बी० ए०, एल-एल० बी०; प्रकाशक हिंदी साहित्य कुटीर, बनारस; मूल्य १।।।) ।

लेखक ने भूमिका में कहा है कि "नाटक, उपन्यास, पत्र-पत्रिकादि पर इस प्रकार के यथासाध्य विस्तृत इतिहास तैयार कर लिए जायँ तो हिंदी-प्रेमियों को अपने बढ़ते हुए भांडार तथा उनके अभावों का पूरा पता मिल सके और वे उनकी रक्षा तथा पूर्ति का प्रबंध कर सकें। कुछ ऐसे ही विचारों से यह 'हिंदी नाट्य साहित्य' तैयार किया गया है।"

हिंदी साहित्य का अध्ययन करनेवालों के लिये कोई भी ऐसा पुस्तकालय नहीं है जहाँ हस्तलिखित और मुद्रित हिंदी ग्रंथ सब इकट्ठे मिल सकें। कहीं ऐसी तालिका भी नहीं मिलती कि जिससे जिज्ञासु को ज्ञात और प्रकाशित ग्रंथों का नाम और पता भी मिल जाय। इसकी बहुत बड़ी आवश्यकता है कि कोई एक संस्था इस प्रकार प्रयास करके अध्ययन और खोज के लिये सामग्री इकट्ठी कर दे। आलोच्य ग्रंथ में एक प्रकार से सभी ज्ञात और प्रकाशित नाटकों की सूचना दी गई है। संवत् १६९३ से लेकर सं० १९९५ तक के (हिंदीवाले अर्थ में) नाटक नाम के हिंदी के सभी ग्रंथ चाहे वे पद्यबद्ध उपदेश हों, प्रचार ग्रंथ हों, अनुवाद हों अथवा सुंदर मौलिक नाटक हों, ले लिए गए हैं। जहाँ तक मेरी जानकारी है, बड़े बड़े पुस्तकालयों में भी इन सबका संग्रह नहीं है। अतः पहला लाभ तो पुस्तकालयों का है कि वे इससे अपने संग्रहों को पूर्ण बना सकते हैं।

लेखक ने भूमिका में यह प्रार्थना भी की है कि यदि साधन की कमी के कारण किसी नाटककार का कोई नाटक छूट गया हो तो सूचना मिलने पर उसका नाम जोड़ दिया जायगा। इस पर भी पाठकों का ध्यान हिंदी-हित के विचार से अवश्य जाना चाहिए। काशी की नागरीप्रचारिणी सभा और प्रयाग के भारतीय हिंदी साहित्य-सम्मेलन जैसी संस्थाओं के संग्रहों

में तो प्रत्येक प्रकाशित पुस्तक अवश्य होनी चाहिए। इतिहास लिखने और पढ़नेवाला व्यक्ति जानता है कि ऐसा न होने के कारण हिंदी साहित्य के इतिहास में कितनी कमी रह गई है। इस प्रकार दूसरा लाभ नाट्य साहित्य का इतिहास लिखने पढ़नेवाले का है। प्रत्येक व्यक्ति अब इस ग्रंथ के द्वारा जानकारी हो जाने पर मूल नाटकों को प्राप्त कर स्वतंत्र अध्ययन और आलोचन कर सकता है।

अब तीसरी बात है परीक्षार्थियों और सामान्य विद्यार्थियों की। उन्हें आवश्यकता होती है शास्त्रीय विवेचना अथवा व्याख्यात्मक आलोचना की। पर स्वयं लेखक ने कहा है कि इस ग्रंथ में "नाटकों पर जो कुछ विवेचना की गई है और जो कुछ निजी राय दी गई है वह सब स्वतंत्र रूप से मेरी ही है"। हमने आद्योपांत पढ़कर देखा है कि वैसी राय शायद ही किसी दूसरे विद्वान् की हो। जो स्वयं विशेषज्ञ और मर्मज्ञ हैं उन्हें तो श्री ब्रजरत्नदासजी की 'स्वतंत्र' और 'निजी' राय से सुख मिल सकता है, पर विद्यार्थियों का कुशल तो इसी में है कि वे इन रायों पर असावधान होकर विश्वास न करें। विद्यार्थियों को तो उन्हीं निर्णयों और व्याख्याओं को पढ़ना चाहिए जिनके लिये पूरे प्रमाण दिए गए हों। प्रस्तुत नाट्य साहित्य के लेखक ने प्रमाण नहीं दिए हैं। शायद ऐसा करने से ग्रंथ-विस्तार का भय था। कारण चाहे जो हो, यह प्रमाण का अभाव आदि से अंत तक देख पड़ता है। अर्थात् रस, वृत्ति आदि पर भी जो लिखा गया है उस पर भी यह बात घटती है। अंत में एक बात है कि इस ग्रंथ की रूपरेखा लेकर यदि कोई अध्यापक अथवा परीक्षार्थी स्वतंत्र अध्ययन करे अथवा लिखे तो उसे पूरा लाभ होगा।

आदि के उद्धरण का ध्यान करके कि यह ग्रंथ तो नाटकों के 'भंडार और अभावों का पूरा पता' देने के लिये लिखा गया है, यह आलोचना ही व्यर्थ हो जाती है। केवल असावधान और सुकुमारमति विद्यार्थियों को बचाना ही इसका एक प्रयोजन हो सकता है।

अंत में कोई भी हिंदी-प्रेमी यही कहेगा कि हिंदी साहित्य के काव्य, कहानी, उपन्यास, निबंध आदि सभी अंगों पर इस प्रकार के ग्रंथ निकलने चाहिए। उनकी आलोचना और काटछाँट के द्वारा ही सच्चा कार्य आगे बढ़ेगा।

अब अनुभवी लेखक का ध्यान हम 'रचैता', 'अंतर्प्रकृति' जैसे असाधु शब्दों, सन्-संवत् के खिचड़ी व्यवहार, संयोजक चिह्नों के अनिश्चित प्रयोग आदि की ओर दिलाकर आशा करते हैं कि अगले संस्करण का अवसर मिलने पर वे पुस्तक में अन्य सुधारों के साथ इनका भी विचार रखेंगे।

सवेरा, संघर्ष और गर्जन—लेखक श्री भगवतशरण उपाध्याय, एम० ए०; प्रकाशक सरस्वती-मंदिर, जतनबर, बनारस।

मानव-तरंगिणी की ये तीन तरंगें निकल चुकी हैं। पहली का नाम है सवेरा जिसमें मानव-जाति के 'सवेरा' से लेकर ऋग्वेद के 'समनोत्सव' तक का संस्कृति-काल अंकित करनेवाली दस कहानियाँ हैं। संघर्ष नामक दूसरी तरंग में सातवीं शती ई० पू० से तीसरी शती ई० पू० तक के इतिहास को अंकित करनेवाली दस कहानियाँ हैं और गर्जन नामक तीसरी तरंग में समय-प्रसार है तृतीय शती ई० पू० से द्वितीय शती ई० तक। इन तीन तरंगों में चित्रित 'गतिमती मानवता के इतिहास' को पढ़ने से इतना निश्चित हो जाता है कि इन कहानियों के विद्वान् लेखक का प्राचीन साहित्य और इतिहास पर ही नहीं, हिंदी-साहित्य की भाषा और शैली पर भी पूरा अधिकार है। आपकी चित्र उपस्थित करने की शक्ति भी मोहक है। ऐसी ख्यातवृत्त कहानियों में दो बातों का डर रहता है। या तो वे नीरस इतिवृत्त बन जाती हैं अथवा वे इतिहास की सचाई खो देती हैं। मानव-तरंगिणी में इन दोषों का न रहना हिंदी के इस नवागंतुक लेखक की कुशलता का प्रमाण है।

यद्यपि हम जानते हैं कि इन कहानियों में चित्रित दृष्टि-कोण अनेक विद्वानों और विशेषकर भारतीय आध्यात्मिक दृष्टि-कोणवाले इतिहासज्ञों से भिन्न है तथापि वह इस आधुनिक युग की खोज का फल है, इसे सभी स्वीकार करेंगे। इन कहानियों पर दूसरा आक्षेप यह हो सकता है कि इनमें बीते युग का संदेश है पर यह तो लेखक का उद्देश्य ही मालूम पड़ता है।

इन दोषरहित कहानियों के गुणों को परखकर प्रत्येक समानधर्मा पाठक कर्त्ता से यही कहेगा कि मुझे ये कहानियाँ अच्छी लगी हैं, आप और लिखिए।

—पद्म।

लेखनी उठाने के पूर्व या लेखक-बंधु—लेखक श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए० (श्री भारतीय); प्रकाशक 'लेखक'-कार्यालय, शारदा प्रेस, प्रयाग; आकार ६॥"×४", पृष्ठ २४०, सुंदर तैयारी; मूल्य १॥)।

इस पुस्तक में हिंदी में लेखन-कला संबंधी साहित्य की कमी की पूर्ति के लिये प्रकाशित 'लेखक' पत्र के दो वर्षों में उसके संपादक श्री भारतीय के समय समय पर निकले लेखन-कला तथा पत्रकार-व्यवसाय संबंधी लेखों में से कुछ संगृहीत हैं। नवयुवक लेखकों के लिये यह संग्रह प्रकाशित है और लेखक-ग्रंथमाला की यह प्रथम पुस्तक है। इसमें 'लेखनी उठाने के पूर्व, हम किस पर लिखें ?, कवि-चर्य्या या लेखक-चर्य्या, जब हम लिखने बैठें, शैली, कहानी कैसी हो ?, कहानी और कहानी लिखना, उपन्यास-रचना, रूपक और रेडियो ड्रामा, हास्य और उसकी सृष्टि, बच्चे क्या पढ़ना चाहते हैं ?, लोमहर्षक आख्यान, उपनाम की आवश्यकता, रचनाओं का नामकरण, सफल पत्रकार, कापीराइट कानून, सफलता की कुंजी और प्रूफ-संशोधन' इस क्रम से ये १८ लेख हैं और अंत में 'स्वांत:सुखाय' शीर्षक एक लघु लेख जोड़ दिया गया है।

लेखनी उठाने के पूर्व लेखन-कला अर्थात् लेखन-कौशल का अभ्यास अपेक्षित है। लेखन-कर्म की सिद्धि के लिये शास्त्रीय निपुणता के साथ इस अभ्यास का अधिकार आवश्यक है। अत: साहित्यशास्त्र या अलंकारशास्त्र के साथ कविशिक्षा की पुस्तकें प्रस्तुत होती रही हैं। इस व्यवसाय-युग में लेखन-कर्म एक स्वतंत्र व्यवसाय भी हो रहा है। इससे आधुनिक लेखन-कला की शिक्षा में व्यवसाय-विचार अवश्य रहता है। योरपीय साहित्य में ऐसी शिक्षा-पुस्तकें बहुत प्रस्तुत होती रहती हैं। इनमें कुछ साहित्यशास्त्र तथा साहित्य के आदर्शों पर आधारित लेखन-कला की व्यवसाय-विचार-युक्त शिक्षा देती हैं और बहुतेरी प्राय: व्यवसायपरक ही होती हैं।

हिंदी में आधुनिक लेखन-कर्म की शिक्षा की पुस्तकों की बड़ी शोचनीय कमी है। 'लेखक-कार्यालय' ने इस ओर ध्यान दिया है। उसका प्रस्तुत प्रकाशन अभिनंद्य है। ऊपर दी हुई सूची से प्रकट है कि इस पुस्तक का विषय-क्षेत्र व्यापक तथा आधुनिक उपयोग का है। कविता तो

व्यवसाय की ठीक बाँध में लाई नहीं जा सकी है, अतः ऐसी आधुनिक पुस्तकों में उसका स्थान नहीं रहता। परंतु निबंध का इसमें स्थान होना आवश्यक था। आधुनिक लेखक तथा पत्रकार के लिये इसकी कला का अधिकार बहुत आवश्यक है। अपिच पुस्तक के विषय यथेष्ट क्रमबद्ध, प्रकरणों के समान परस्पर संबद्ध तथा पुनरुक्तियों से रहित होने चाहिए थे। यह पुस्तक लेखक के कुछ स्फुट लेखों का संग्रह ही है। परंतु इस संग्रह को पुस्तक की पूर्णता तथा एकता प्रदान की जा सकती थी।

विषय-प्रतिपादन में लेखक ने लेखन-शिक्षा-संबंधी अँगरेजी की आधुनिक पुस्तकों का बहुत उपयोग किया है। कविचर्या या लेखक-चर्या के विषय में राजशेखर की काव्यमीमांसा का भी उपयोग हुआ है। आधुनिक भारतीय लेखक का ध्यान रखकर पुस्तक के लेख लिखे गए हैं। अँगरेजी की आधुनिक पुस्तकों का उपयोग तो आवश्यक था, पर साथ ही संस्कृत की कवि शिक्षा की पुस्तकों का यथेष्ट उपयोग भी वांछनीय था। परंतु यहाँ उपयोग अधिकतः व्यवसायपरक पुस्तकों का ही हुआ है। कला के प्रतिपादन में शास्त्र-निर्देश की, यथोचित विवेचन की उपेक्षा है। शैली के प्रसंग में तो लेखक ने "हम लेखक हैं, साहित्य के समालोचक नहीं" यह लिखकर लेखकों के लिये शास्त्र-ज्ञान और समालोचकों के लिये कला-ज्ञान अनपेक्षित ही घोषित कर दिया है! 'स्वांतःसुखाय' की भावना का लेखक ने अनेक स्थलों में निषेध करके अंत में उसके प्रति बड़ी सरसता दिखाई है। अँगरेजी की कुछ पुस्तकों के समान इस पुस्तक के प्रकरणों के अंत में सहायक शास्त्रीय पुस्तकों का नाम-निर्देश ही कर दिया गया होता तो बहुत उपकार हो जाता। अँगरेजी पुस्तकों की छाया प्रस्तुत करने में लेखक को कितने ही स्थलों में उनके उद्धरणों तथा प्रयोगों के हिंदी-अर्थ देने का ध्यान ही नहीं रहा है। शायद यह पुस्तक ऐसे अँगरेजी जाननेवाले हिंदी लेखकों के लिये ही तैयार की गई है जो उस भाषा की ऐसी पुस्तकें पढ़ या समझ नहीं सके हैं।

पुस्तक के विषय-क्षेत्र की व्यापकता और उपयोगिता का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इसमें 'रूपक और रेडियो ड्रामा', 'कापी राइट कानून' और 'प्रूफ-संशोधन' के विषय विशेष अच्छे लिखे और उपयोगी हैं।

पुस्तक चलती लेखनीवाले, अनुभवी लेखक की है। इसकी भाषा इसके उद्देश्य के अनुरूप सरल, व्यास-शैली की और व्यावहारिक है। इसमें बीच बीच का अँगरेजीपन खटकता है। प्रूफ-संशोधन भी सिखाने वाली इस पोथी में प्रूफ-संशोधन की चूकें विशेष खटकती हैं। इस विषय के लेख में भी ये वर्तमान हैं। उपनामवाले लेख में यह शब्द एक बार 'उपमान' और एक बार 'उनापम' बना पड़ा है! पर अन्वीक्षण के स्थान पर बराबर 'अनुवीक्षण', विशद के स्थान पर बराबर 'विषद्' जैसे कुछ रूपों को क्या कहा जाय? ये तो विष-द् ही हैं!

लेखक का हिंदी में लेखन-शिक्षा के महत्त्वपूर्ण, पर उपेक्षित क्षेत्र की ओर ध्यान देकर पुस्तक प्रस्तुत करना बहुत अभिनंद्य है। 'नवयुवक लेखकों' के लिये यह पुस्तक साधारणतः बहुत उपयोगी, उनका हितैषी 'बंधु' है। आशा है कि वे इसका ऐसा स्वागत करेंगे कि इसका यह संस्करण शीघ्र समाप्त हो जायगा और लेखक को दूसरे संस्करण में इसे यथेष्ट संशोधित तथा संवर्धित और यथेष्ट उपादेय रूप में प्रस्तुत करने का अवसर मिलेगा।

गुलेरी जी की अमर कहानियाँ—संपादक और प्रकाशक श्री शक्तिधर गुलेरी एम० ए०, एम० आर० ए० एस०, ओरिएंटल डिपार्टमेंट, प्रयाग-विश्वविद्यालय; पृष्ठ १६+७६, सचित्र; मूल्य ॥)।

स्वर्गीय पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी अनोखी प्रतिभा से एक ही कहानी में अमर व्यंजना रचकर जनसाधारण में उसी के यश से अमर हो रहनेवाले चमत्कारी साहित्यकार के रूप में हिंदी-संसार में स्मरणीय रहे हैं। उस अमर कहानी 'उसने कहा था' के साथ अब उनकी दो और कहानियाँ—'सुखमय जीवन' और 'बुद्धू का काँटा'—उपलब्ध हैं और ये तीनों इस पुस्तक में संगृहीत हैं यह बड़े हर्ष की बात है। इसके साथ बड़ी प्रसन्नता की बात यह है कि इस हर्ष के उपस्थापक स्वर्गीय गुलेरी जी के सुयोग्य आत्मज हैं।

पुस्तक गुलेरी जी के प्रतिभाशाली प्रिय शिष्य स्वर्गीय राजा जयसिंह (खेतड़ी) को समर्पित है। प्रो० अमरनाथ झा की भूमिका और संपादक के वक्तव्य के बाद 'सुखमय जीवन', 'बुद्धू का काँटा' और 'उसने कहा था'

इस क्रम से ये कहानियाँ संगृहीत हैं। यही क्रम इनकी रचना का ज्ञात हुआ है। पहली कहानी सन् १९११ में 'भारत-मित्र' में और तीसरी सन् १९१५ में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। दूसरी के प्रकाशन का ठीक पता नहीं लगा है; परंतु रचना के विचार से यह उक्त दोनों के बीच के काल की ज्ञात हुई है, अतः इसका स्थान दूसरा है। पुस्तक गुलेरी जी की तीन अवस्थाओं के फोटो-चित्रों से भूषित है।

गुलेरी जी की प्रतिभामयी सहृदयता, भाव तथा भाषा की मार्मिकता और व्यंजना-कुशलता का सरस परिचय इस संग्रह के प्रत्येक पृष्ठ पर होता है। तीनों कहानियों का लक्ष्य प्रकृत चरित्र का अंकन और यथार्थ जीवन की व्यंजना है। 'सुखमय जीवन' में इसी नाम की एक पुस्तक के लेखक, अनुभव तथा शालीनता से शून्य आधुनिक शिक्षा के एक नवयुवक को यथार्थ जीवन के अनुभव के द्वारा सच्चे सुखमय जीवन की सीख मिलती है। 'बुद्धू का काँटा' में एक आधुनिक पढ़े-लिखे, जीवनसंसर्गशून्य बुद्धू को उस संसर्ग में पहुँचकर प्रकृत प्रेम का काँटा चुभता है जिसकी कसक से उसे समझ मिलती है और उसका अधूरा जीवन पूरा होता है। 'उसने कहा था' की कहानी तो प्रसिद्ध ही है। तीनों ही बारबार पढ़ने और रस लेने की वस्तु हैं। इन कहानियों, के रचना-क्रम के अनुसार ही गुलेरी जी की कला का विकास हुआ है, इनमें उत्तरोत्तर उत्कर्ष है। तीसरी कहानी, सबसे नपी-तुली, चुस्त और चुटीली है। यह तो विश्व की श्रेष्ठ कहानियों में गण्य है। गुलेरी जी की कला का आगे कैसा और विकास होता! परंतु यह हिंदी के भाग्य में न था। कहीं उनकी कुछ और कहानियाँ पड़ी तो नहीं हैं?

अपने वक्तव्य में संपादक ने 'गुलेरी-ग्रंथ' का निर्देश किया है जिसमें गुलेरी जी की समस्त हिंदी-कृतियों का संग्रह और उनकी जीवनी होगी। नागरी-प्रचारिणी सभा इसका प्रकाशन कर रही है। आशा है, गुलेरी जी के सुयोग्य पुत्रों और उनके संबंधियों तथा मित्रों के यथेष्ट सहयोग से इस ग्रंथ का संपादन यथेष्ट सफल होगा।

गुलेरी जी की अमर कहानियों के इस संग्रह का अवश्य ही हिंदी-संसार में विशेष हर्ष और कृतज्ञता से स्वागत होगा।

आदर्श नरेश—श्री० राजा अजीतसिंह जी बहादुर खेतड़ी का जीवनचरित्र। लेखक पं० झाबरमल्ल शर्मा; प्रस्तावना-लेखक डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा डी० लिट०; प्रकाशक शेखावाटी, हिस्टारिकल रिसर्च आफिस, जसरापुर—खेतड़ी (राजपूताना); पृष्ठ १२+३८३, सजिल्द, सचित्र; मूल्य २॥)।

जयपुर राज्य के अधीन शेखावाटी प्रांत में स्थित खेतड़ी संस्थान के स्वर्गीय राजा अजीतसिंह जी बहादुर का यह जीवन-चरित्र एक बहुत आदरणीय प्रकाशन है। स्वर्गीय पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी के शब्दों में "राजा श्री अजीतसिंह जी बहादुर बड़े यशस्वी और विद्या-प्रेमी हुए। गणित में उनकी अद्भुत गति थी। विज्ञान उन्हें बहुत प्रिय था। राजनीति में वे दक्ष और गुण-ग्राहिता में अद्वितीय थे। दर्शन और अध्यात्म की रुचि उन्हें इतनी थी कि विलायत जाने के पहले और पीछे स्वामी विवेकानंद उनके यहाँ महीनों रहे। स्वामीजी से घंटों शास्त्र-चर्चा हुआ करती। राजपूताने में प्रसिद्ध है कि जयपुर के पुण्यश्लोक महाराजा श्री रामसिंह जी को छोड़कर ऐसी सर्वतोमुख प्रतिभा राजा श्री अजीतसिंह जी ही में दिखाई दी।" स्वामी विवेकानंद जी ने उनके संबंध में कहा था कि "What little I have done for the improvement of India would not have been done if Rajaji had not met me." अर्थात् भारत की उन्नति के लिये जो थोड़ा कुछ मैंने किया है वह न किया गया होता यदि राजा जी मुझे न मिलते। राजा अजीतसिंह जी बहुपक्षी आदर्श चरित्र के नरेश थे। सारे देश में ही उनके यश का विकास हो रहा था। परंतु ४० वर्ष की ही आयु में, सन् १९०१ के आरंभ में, वे सहसा स्वर्गारोहण कर गए। उनकी यह जीवनी उनकी छोटी राजकुमारी, प्रतापगढ़ की राजमाता, बहुगुणवती श्रीमती चंद्रकुमारी देवी जी की इच्छा और इनके अनुज स्वर्गीय राजा जयसिंह जी के गुरुवर स्वर्गीय गुलेरी जी की प्रेरणा से खेतड़ी के ही निवासी, अनुसंधानप्रिय, अनुभवी लेखक पं० झाबरमल्ल शर्मा ने बड़ी भक्ति और अध्यवसाय से प्रस्तुत की है और इसे इन्हीं राजमाता के कर-कमलों में समर्पित किया है।

पुस्तक में प्रस्तावना, लेखक के वक्तव्य और खेतड़ी के परिचय के बाद 'जन्म और खेतड़ी गोद बैठना; शिक्षा और गुणसंचय; जयपुरेंद्र की कृपा, विवाह, शासनाधिकार की प्राप्ति और सुव्यवस्था; प्रजाहित और कीर्तिकर कार्य; शिक्षानुराग और कविताप्रेम; श्री स्वामी विवेकानंद से भेंट, घनिष्ठता, सर्व धर्मपरिषद् में प्रेषण, पत्राचार और संभाषणादि; देश के विभिन्न भागों में भ्रमण; विलायत यात्रा और स्वदेश-प्रत्यागमन; कश्मीर-पर्यटन; जयपुर दरबार की अकृपा, अस्वास्थ्य और परलोकवास; रानी साहबा श्रीमती चाँपावत जी और उनकी संतानें' ये ग्यारह अध्याय हैं और अंत में 'श्री राजा साहब की स्मृतियाँ' शीर्षक एक परिशिष्ट है। पुस्तक बहुतेरे अवसरानुकूल चित्रों से संपन्न है।

उक्त अध्यायों की रूपरेखा में लेखक ने यथेष्ट अनुसंधान से सुविस्तृत तथ्य संकलित कर राजा साहब का बृहत् जीवन-लेखा ही प्रस्तुत किया है। पूरे पत्रों, भाषणों, डायरी के लेखों, नामसूचियों, आनुषंगिक व्यक्तियों के लघु जीवनवृत्तों एवं राजकार्य आदि के पूरे ब्योरों को परिशिष्टों में रखकर इनके चुने अंशों और प्रसंगों के उपयोग से राजा साहब के स्फुट जीवन-चरित्र का वर्णन वांछनीय था। परंतु राजा साहब से संबंधित सभी तथ्यों का ब्योरेवार संकलन और इसके द्वारा उनके जीवन का पूरा आख्यान ही लेखक का अभीष्ट ज्ञात होता है। इस प्रयत्न में वे यथेष्ट सफल हुए हैं। पुस्तक में राजा साहब के बहुपक्षी आदर्श जीवन के बहुत प्रामाणिक और उपादेय विवरण हैं। साथ ही बहुतेरे उपयोगी, आनुषंगिक विवरणों से पुस्तक भरी है। इस प्रकार के जीवन-चरित्र का यह एक आदर्श नमूना है।

पुस्तक की भाषा परिष्कृत और शैली विषयानुकूल है। इसकी छपाई और तैयारी भी अच्छी है।

स्वर्गीय राजा अजीतसिंह जी बहादुर का यह पुष्ट और प्रामाणिक जीवन-चरित्र अवश्य ही एक बहुत आदरणीय प्रकाशन है।

—कृ।

नंददास—संपादक पं० उमाशंकर शुक्ल एम० ए०; प्रकाशक—प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग; दो भागों में पृष्ठ ५९१ + ११७; मूल्य ६)।

इस पुस्तक में प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त कवि नंददास जी के प्राप्य सभी ग्रंथों का वैज्ञानिक रीति से संपादन किया गया है। इसमें कवि के ११ ग्रंथों और कुछ पदों का संग्रह है। वे ११ ग्रंथ ये हैं—रूपमंजरी, विरहमंजरी, रसमंजरी, मानमंजरी, नाममाला, अनेकार्थमंजरी, स्याम-सगाई, भँवरगीत, रुक्मिनी-मंगल, रासपंचाध्यायी, सिद्धांतपंचाध्यायी तथा दशम स्कंध। २८३ पदों में से केवल ३५ पद ही मूल मानकर रखे गए हैं। आरंभ में डा० अमरनाथ झा का वक्तव्य है और संपादक की ११७ पृष्ठों की लंबी-चौड़ी भूमिका है, जिसमें कवि की जीवनी, कविकृत प्रसिद्ध ग्रंथ, संपादित ग्रंथों का आधार, संपादन-विधि, काव्य-समीक्षा आदि पर विस्तार के साथ विचार किया गया है। अंत में परिशिष्ट के अंतर्गत ये खंड रखे गए हैं—संदिग्ध तथा असंपादित सामग्री, प्रक्षिप्त सामग्री, पाठांतर, पदों की प्रथम पंक्ति की अकारादि क्रम से सूची और शब्दार्थ-कोष।

इस प्रकार नंददास के ग्रंथों का यह वैज्ञानिक रीति से किया हुआ संपादन है। संपादन बहुत अधिक परिश्रम और व्यय के साथ किया गया है। नंददास की रचनाओं पर अधिक काम करनेवाले के लिये अच्छी और अच्छे ढंग से संपादित सामग्री एकत्र कर दी गई है। पुराने काव्य का उद्धार करने की ओर प्रयाग विश्वविद्यालय की दृष्टि गई, यह बड़े आनंद की बात है। पर यहीं यह कह देना भी आवश्यक है, कि प्राचीन काव्यों के संपादन में वैज्ञानिक दृष्टि के साथ ही पूर्ण साहित्यिक दृष्टि भी अपेक्षित है। प्राचीन काव्यों की टीका-टिप्पणियों के रूप में यह साहित्यिक दृष्टि बहुत दिनों से परंपरा में गृहीत रही है। वैज्ञानिक दृष्टि आधुनिक दृष्टि है और साहित्य के काम में अत्यंत उपयोगी है, इसमें संदेह नहीं; पर साहित्यिक दृष्टि भी उतनी ही होनी चाहिए, जितनी वैज्ञानिक। इतनी बड़ी रचना के लिये टीका-टिप्पणी केवल १८ पृष्ठों की है और उसमें भी अशुद्धियाँ हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

'चीत्यौ' का अर्थ किया गया है 'चैतन्य, 'बुद्धिमान्', पर 'चीत्यौ' का अर्थ होता है 'मनचाहा'। पुस्तक से वह अंश ही उद्धृत किया जाता है—

'वैरी चीत्यौ जगत में तू जिनि करि करतार'

इसका सीधा और सही अर्थ यह है कि हे ईश्वर, तू शत्रु का मनचाहा संसार में मत कर।

'बितन' का अर्थ होता है 'कामदेव' पर उसका अर्थ दिया गया है—'फैला हुआ, विस्तृत'।

फटिक-छटा सी किरन, कुंज-रंध्रनि जब आई।
मानहुँ बितन बितान, सुदेस तनाव तनाई॥

'ढुकना' का अर्थ 'छिपना' या 'साथ लगना' होता है, पर इसमें 'ढुकि चलीं' का अर्थ दिया गया है 'शीघ्रतापूर्वक चलीं'। 'नाट' का अर्थ 'शरीर के भीतर टूटा हुआ फल या काँटा होता है'। ब्रज में 'नटसाल' का व्यवहार बहुत अधिक होता है, उसी का यह संक्षिप्त रूप 'नाट' है पर इसका अर्थ इसे 'नाटक' का संक्षिप्त रूप समझ कर 'स्वाँग, तमाशा' किया गया है। प्रसंग देखिए—

तियतन बितन जु पंचसर, लगे पंच ही बाट।
चुंबक साँवरे पीय बिन, क्यों निकसत यह नाट॥

'चुंबक' के साहचर्य से भी 'नाट' का अर्थ 'लोहे का टुकड़ा' साफ भासित होता है।

'घनहर' का अर्थ ब्रज में 'बादल' होता है, पर 'हर' को 'घन' से पृथक् करके 'घनहर घोरै' का अर्थ किया गया है—बादल मंद गति से गरज रहा है। वस्तुतः अर्थ है 'बादल गरजता है।'

संपादन के संबंध में भी दो उदाहरण इन टिप्पणियों से ही दिए जाते हैं—

पंकज पत्रन परव बनावै, उड़न लगै, सो क्यों उड़ि आवै।—यहाँ 'परव' का अर्थ 'परेवा, कबूतर' किया गया है। मेरे विचार से यह 'पंख' शब्द है जो बिंदु के उड़ जाने से 'परव' पढ़ लिया गया है। 'परव' का अर्थ 'कबूतर' कहीं भी देखा नहीं गया।

भरि आवैं जब लोचन पानी।
घूम परथौ तब कहै सयानी॥

'घूम परथौ' का अर्थ दिया गया है 'चक्कर आ गया।' मेरे ध्यान में यहाँ 'धूम परथौ' होना चाहिए। नायिका के नेत्रों में जब पानी (आँसू) आ जाता है, तो छिपाने के लिये वह सखियों से कहती है कि धूआँ लग गया है।

इस संबंध में इतना लिखने का कारण केवल कर्त्तव्य-बुद्धि ही है। वस्तुतः संपादक का परिश्रम प्रशंसनीय है। पर उन्होंने जितना परिश्रम किया, उसमें कुछ और सतर्कता अपेक्षित है। इस प्रकार के ग्रंथों के प्रकाशित होने से साहित्य का बड़ा लाभ है। प्रयाग-विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग को इसके लिये बधाई है।

—वि० प्र० मिश्र।

विविध

स्वामी अग्रदासजी

जयपुर के पुरोहित श्री हरिनारायण जी शर्मा, बी० ए०, विद्याभूषण ने 'संत' मासिक पत्र में सन् '४१ के अंत में एक लेख प्रकाशित कराया था। उसमें उन्होंने नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी की 'हिंदी भाषा का विकास' नामक पुस्तक में दो भूलें सुधारने का प्रस्ताव सप्रमाण किया था। उक्त पुस्तक आजकल 'हिंदी साहित्य का इतिहास' नाम से प्रसिद्ध है। उसके आरंभिक संस्करण में स्वामी अग्रदास जी को "महात्मा वल्लभाचार्य जी की शिष्य-परंपरा में, उनके प्रसिद्ध अष्टछाप के कृष्णदासजी पयहारी के शिष्य" लिखा गया था। वास्तव में यह स्थापना ठीक नहीं थी। इसी से उक्त पुस्तक के वर्तमान संस्करणों में अब उनके वल्लभाचार्य जी की शिष्य-परंपरा में होने का वर्णन न होकर उन्हें रामानंदजी के प्रशिष्य कृष्णदास पयहारी का शिष्य बतलाया गया है। इस स्पष्ट उल्लेख से कृष्णदास पयहारी का अष्टछाप के अंतर्गत होने का निराकरण अपने आप हो जाता है।

उक्त 'इतिहास' के लेखक आचार्य शुक्लजी से इस विषय में यह पूछ-ताछ करने का अब कोई सुबीता नहीं है कि आरंभ में पुस्तक में वैसी स्थापना किस आधार पर की गई थी।

उक्त लेख को टिप्पणी में पुरोहितजी ने लिखा है कि उन्होंने पुस्तक में संशोधन करने के लिये अपना लेख ना० प्र० पत्रिका के संपादक के पास भेजा था। परंतु पत्रिका में उसके प्रकाशित न होने पर उसे उन्हें 'संत' में प्रकाशित कराना पड़ा। पत्रिका के संपादकों में शुक्लजी भी थे। कदाचित् वह लेख उनके पास भेजा गया, पर उनके अनवकाश और रुग्णावस्था के कारण उसका प्रकाशन यथासमय न हो सका। अब तो सबके पास 'इतिहास' का परिवर्धित संस्करण है, इस कारण यह सूचना एक प्रकार से अनावश्यक है फिर भी जिनके पास 'विकास' की प्रति या 'इतिहास'

का पुराना संस्करण है उनके लिये यह सूचना काम की है। वे अपनी प्रति में यह संशोधन अवश्य कर लें।

ऐसी उपयुक्त और महत्त्व की सूचना भेजने के लिये श्री पुरोहित जी धन्यवाद के पात्र हैं।

पत्रिका में स्थानाभाव के कारण यह सूचना इससे पहले उपस्थित न की जा सकी। इसके लिये श्री पुरोहितजी और पाठक कृपया क्षमा करेंगे।

—लल्लीप्रसाद पांडेय।

(भू० पू० प्रधान मन्त्री—'सभा)

संशोधन

(१) पद्मनीचरित्र का समय

'पत्रिका' के वर्ष ४६—पृष्ठ १८३ में पद्मनीचरित्र का रचनाकाल श्री अगरचंद नाहटा की सूचना के अनुसार डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने सं० १७०२ की पूर्व स्थापना के विरुद्ध १७०७ माना है। वहाँ उस ग्रंथ के समय-सूचक दोहे के 'वड़ोतरे' शब्द के संबंध में उन्होंने यह कल्पना की है कि संभवत: यह 'बरोतरे' शब्द का विकृत रूप है जिसका अर्थ 'वार-उत्तर' अर्थात् सात (वार सात होते हैं) अधिक है, अत: दोहे के "संवत् सतरे से बड़ोतरे" का अर्थ संवत् सात अधिक सत्तरह सौ (१७०७) है। परंतु इसे कल्पना ही मानकर उन्होंने इस संबंध में विद्वानों से कुछ अधिक प्रकाश की आशा की थी।

श्री रविशंकर देराश्री ने यह सूचना भेजी है कि पत्रिका के भाग १५ अंक २ में प्रकाशित 'गोराबादल की बात' शीर्षक लेख में इस ग्रंथ की रचना के समय-सूचक दोहे में "संवत् सतरै=बिडौतरे" पाठ है। वे लिखते हैं कि "मेरे पास वि० सं० १७८१, ८२, ८३ के कई कर्ज के रुक्के हैं और उनमें ब्याज की शरह दर्ज है। जहाँ एक रुपया सैकड़ा ब्याज है, वहाँ एक रुपया प्रति सदी की जगह 'डोतरा' शब्द लिखा है, जहाँ दो सदी है वहाँ 'बिडौतरा' और जहाँ ३ सदी है वहाँ 'तिडौतरा' लिखा हुआ है।...अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि 'सतरै बिडौतरे' का अर्थ १७०७ न होकर १७०२ है।" पत्रिका के उक्त अंक के लेख के अंतिम दोहे में "संवत् सतरा सतोतरे

चैत्री पूर्णम शनिवार" सं० १७०७ चैत्र शुक्ल शनिवार ही है। यह ग्रंथ-समाप्ति की सूचना है। अतः स्पष्ट है कि पद्मनीचरित्र का आरंभ सं० १७०२ में हुआ और इसकी समाप्ति सं० १७०७ में हुई।

इस उपयोगी सूचना के लिये श्री देराश्री को धन्यवाद।

(२) 'दाराशिकोह के फारसी उपनिषद्' शीर्षक लेख

पत्रिका के पिछले अंक में प्रकाशित उपर्युक्त लेख के प्रूफ-शोधन में कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं। इनका संशोधन उसके लेखक श्री शालिग्राम श्रीवास्तव ने ही भेजने की कृपा की है। वह इस प्रकार है—

	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१८१	१२	پرتو	پرنو
२	,,	१५	حبط	ضبط
३	१८३	२३	درستکار	ورسکار
४	१८४	२१	دردله	داندله

इन अशुद्धियों के लिये हम खेद प्रकाश करते और इनके संशोधन के लिये लेखक को धन्यवाद अर्पित करते हैं। —क।

रामचरितमानस की सबसे महत्वपूर्ण प्रति

रामचरितमानस की ज्ञात हस्तलिखित प्रतियों में सबसे प्राचीन तो १७०४ वि० की है जो १८९४ वि० से बनारस राज्य के सरस्वती-भंडार में संगृहीत है; किंतु यह प्रति तादृश प्रामाणिक नहीं। इसमें क्षेपक तो हैं ही, कितने पन्ने भी बदले हुए हैं। समयानुक्रम से इसके बादवाली प्राप्त प्रतियों में प्राचीनतम १७२१ वि० की है। पाठ की शुद्धता की दृष्टि से यह प्रति सर्वोत्कृष्ट है। अब तक मानस के जितने प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित हुए हैं, इस १७२१ वि० वाली प्रति को उन सब को आधार-प्रति कहना अनुचित न होगा।

पहले पहल इसका उपयोग श्री भागवतदास क्षत्री ने अपने स्मरणीय संस्करण में किया, जिसकी पहली आवृत्ति १९४२ वि० में और दूसरी १९५१ वि० में प्रकाशित हुई। उस समय यह प्रति उन्हीं के संग्रह में थी

और यदि यह उन्हें प्राप्त न होती तो कह नहीं सकते, उनका संस्करण इतना प्रामाणिक हो भी पाता या नहीं।

छत्री जी के बादवाले संस्करणों में स्व० रामदास गौड़, बाबा सरजूदास, श्री विजयानंद त्रिपाठी और गीता प्रेस ने अपने प्रामाणिक संस्करणों के लिये मुख्यतः इसी प्रति को आधार माना। किंतु विचित्रता तो यह है कि उक्त किसी भी संस्कारक को यह प्रति प्राप्त न थी। भागवतदास जी के पंचत्व के उपरांत यह प्रति घूमते-घामते ऐसे ठिकाने पहुँच गई थी जिसका किसी को स्पष्ट पता न था। फलतः उक्त संस्कारकों ने इसके अभाव में या तो इसपर अवलम्बित भागवतदास जी के संस्करण का आश्रय लिया या इसकी एक प्रतिलिपि का, जिसे भागवतदास जी ने स्वयं प्रस्तुत करके अयोध्या के सद्गुरुसदन, गोलाघाट, को अर्पण किया था जहाँ वह आज तक सुरक्षित है और अवधपुरी का गौरवस्वरूप मानी जाती है।

अब यह लिखते अत्यंत हर्ष होता है कि मानस-मराल श्री शंभुनारायण जी चौबे की हार्दिक लगन और अथक परिश्रम द्वारा यह प्रति कोई पचास वर्ष के एकांतवास के उपरांत, भारत-कला-भवन में आ विराजी है। भवन के लिये यह परम गौरव, आनंद और सौभाग्य का विषय है। सैलाना राज्य के युवराज, हिंदी-साहित्य के सच्चे हितैषी और उदीयमान साहित्यिक महाराजकुमार श्री दिग्विजय सिंह जू, एम० ए० की पुष्कल दातव्यता से ही यह दुर्लभ प्रति कलाभवन को उपलब्ध हुई है, जिसके लिये वे भूरि भूरि साधुवाद के पात्र हैं। कला-भवन को आशा और विश्वास है कि उसके प्रति श्रीमान् का सद्भाव और औदार्य उत्तरोत्तर प्रवृद्ध होता जायगा।

वर्तमान प्रति बड़े अच्छे और पुष्ट सनिया कागज पर पत्राकार लिखी हुई है; पत्रों का माप ४३/४ + ११३/४ है, जिन पर सात सात पंक्तियाँ हैं। लिपिकर्त्ता के अक्षर जमे हुए हैं जिनसे वह पेशेवर लेखक जान पड़ता है। अक्षर वैक्रम अठारहवीं शती के हैं जिनपर मध्यकालीन छाया विद्यमान है। उत्तरकांड के अंत में यह पुष्पिका दी गई है जो लेखक की ही लिपि में है—

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने अविरलहरि-भक्तिसंपादिनी नाम सप्तमसोपानः समाप्त ॥ शुभमस्तु ॥ संवत १७२१ बर्षे जेठ बदी दशमी।

खेद है कि इस प्रति में अयोध्या कांड का अभाव है। जिन दिनों यह भागवतदास जी के पास थी, कोई सज्जन उसे देखने के लिये ले गए, किंतु फिर न लौटा गए। ऐसा अनुमान होता है कि वह कांड अभी कहीं न कहीं अवश्य है। मानस-प्रेमियों से कलाभवन का अनुरोध है कि उसे खोज निकालें और इस महत्त्वपूर्ण प्रति को समग्र बनाने का श्रेय प्राप्त करें।

—(राय) कृष्णदास।

सभा की प्रगति

विशेष कारणों से खोज-विभाग के अन्वेषक श्री दौलतराम जुयाल आजमगढ़ से काशी बुला लिए गए हैं और यहीं कार्य कर रहे हैं। श्री महेशचंद्र गर्ग, एम० ए० के अलग हो जाने से इस विभाग में जो स्थान रिक्त हुआ था उसपर श्री उदयशंकर त्रिवेदी नियुक्त कर लिए गए हैं। वे भी इस समय काशी में ही कार्य कर रहे हैं।

श्रावण १९९९ के अंत में आर्यभाषा पुस्तकालय में हिंदी की मुद्रित पुस्तकों की संख्या १६३६१ थी। इस छमाही में २२५ नवीन पुस्तकें आईं। इस अवधि में ५१ नए सहायक बने तथा १६ सहायकों ने अपना नाम कटा लिया। इस प्रकार माघ ९९ के अंत में सहायकों की संख्या १७७ रही। पुस्तकालय १४३ दिन तथा वाचनालय १७८ दिन खुला रहा।

रायबहादुर साहित्यवाचस्पति डा० श्यामसुंदरदास जी ने अपना संग्रह, जिसमें हिंदी, अँगरेजी और उर्दू के ५२८ उपयोगी ग्रंथ तथा हिंदी की कुछ पत्र-पत्रिकाएँ भी हैं, इस अवधि में पुस्तकालय को प्रदान करने की कृपा की है। इस संग्रह का मूल्य अनुमानतः ९००) है। डाक्टर महोदय की इस उदारता के लिये सभा उनके प्रति आंतरिक कृतज्ञता प्रकट करती है।

स्व० आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी के इच्छानुसार उनके भानजे श्री कमलाकिशोर त्रिपाठी जी ने उनके संग्रह की शेष पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएँ भी सभा को प्रदान कर दी हैं। दिवंगत आचार्य की इच्छा-पूर्ति के लिये सभा त्रिपाठी जी को हार्दिक धन्यवाद देती है। जिन अन्य सज्जनों ने इस अवधि के भीतर पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं से सभा की सहायता की है, उनमें काशी के श्री कमलनाथ अग्रवाल का नाम उल्लेख-नीय है। सभा उन्हें तथा अन्य उदार दाताओं को हृदय से धन्यवाद देती है।

इस बीच कलाभवन में राजघाट-मंदिर की सजावट होती रही एवं वहाँ की प्राप्त मुहरें पढ़ी गईं। इस संबंध में सभा के खोज-विभाग के अन्वेषक श्री उदयशंकर त्रिवेदी ने विशेष परिश्रम किया। प्रांतीय संग्रहालय के संग्रहाध्यक्ष डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने सजावट के संबंध में बहुत उपयोगी सूचनाएँ दीं। राजघाट से प्राप्त सामग्री का जो अंश अभी कलाभवन में नहीं आ सका है, उसे प्राप्त करने का प्रयत्न भी होता रहा। कुछ उत्कृष्ट पहाड़ी चित्र क्रय किए गए। पुरातत्त्व-विभाग की ओर से श्री एस० घोष तथा श्री के० पी० श्रीवास्तव ने इस अवधि में कलाभवन का विशेष रूप से निरीक्षण किया। इस अवधि में सहायक संग्रहाध्यक्ष अध्ययनार्थ बाहर भेजे गए थे। अपनी यात्रा में उन्होंने पूना और बंबई के प्रसिद्ध प्रसिद्ध संग्रहालयों तथा एलिफेंटा, कन्हेरी, मंडपेश्वर, अजंता, औरंगाबाद और एलोरा की प्रसिद्ध गुफाओं तथा साँची के मौर्यकालीन स्तूपों एवं कलाकृतियों का भी निरीक्षण तथा अध्ययन किया।

अर्द्धशताब्दी का कार्य प्रकाशित योजना के अनुसार चल रहा है। सभा के विवरण का बहुत सा भाग लिखा जा चुका है। प्रायः सभी प्रांतीय भाषाओं के साहित्य की प्रगति के इतिहास लिखे जा चुके हैं। हिंदी की विभिन्न प्रांतों की प्रगति के इतिहास भी कुछ तैयार हो गए हैं। पुस्तकालय और कलाभवन की सूचियाँ प्रायः तैयार हैं, पर कागज तथा द्रव्य की कमी के कारण वे अभी तक छपने के लिये प्रेस में नहीं दी गईं। हिंदी की प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों के विवरण तैयार हो रहे हैं। अभी तक हिंदी-सेवी संस्थाओं के संक्षिप्त परिचय और विवरण यथेष्ट रूप से प्राप्त नहीं हुए हैं। ऐसी कई सौ संस्थाओं को पत्र भेजे गए थे। बहुतों ने अभी कोई उत्तर नहीं दिया है। पुनः प्रयत्न हो रहा है। जितनी अधिक संस्थाओं के परिचय मिल सकें, उतना ही अच्छा है। हिंदी-सेवी संस्थाओं को इधर ध्यान देना चाहिए।

युद्धजन्य स्थिति के कारण कागज पर सरकारी नियंत्रण हो जाने से सभा का प्रकाशन-कार्य इस अवधि में बंद सा रहा; कोई नवीन पुस्तक नहीं प्रकाशित हो सकी।

माघ १९९९ के अंत में सभा के स्थायी कोश में जो धन जमा रहा, उसका ब्योरा निम्नलिखित है—

१६०००) के स्टाक सर्टिफिकेट ट्रेजरर चैरिटेबल एंडाउमेंट्स, संयुक्त-प्रांत के पास।

१०००) के गवर्नमेंट स्टाक सर्टिफिकेट, सभा में।

५६६=) बनारस-बंक में।

४५४२।॥)। पोस्ट आफिस सेविंग बंक में।

६२८।॥) ७ इलाहाबाद बंक में।

२२७३७॥=) १०

इस छमाही में सभा के विभिन्न कार्यों के लिये २५) या अधिक दान देनेवाले सज्जनों की नामावली निम्नलिखित है। सभा इन सब सज्जनों की अनुगृहीत है और आशा करती है कि इनकी कृपा उसपर बराबर इसी प्रकार बनी रहेगी।

---

१ भाद्रपद १९९९ से ३० माघ १९९९ तक सभा को २५) या अधिक दान देनेवाले सज्जनों की नामावली

प्राप्ति-तिथि	दाता का नाम	धन प्रयोजन
११ भाद्रपद १९९९	श्रीमान् राजा उदयप्रतापसिंह, कटियारी	१००) स्थायी कोष
१६ ,, ,,	श्री भगीरथ कानोडिया, कलकत्ता	२००) अर्द्ध-शताब्द
१९ ,, ,,	श्री गोविंददास एडवोकेट, प्रयाग	५०) कलाभवन
२० ,, ,,	श्री बंकटलाल ओझा, हैदराबाद	१०१) स्थायी कोष
२६ ,, ,,	श्री इंदुभूषण गुप्त, आजमगढ़	१००) स्थायी कोष
९ आश्विन ,,	श्री अमरनाथ झा, प्रयाग	५०) कलाभवन
९ ,, ,,	श्री श्रीरंजनजी, प्रयाग	२५) ,,
१३ ,, ,,	श्री स्वामी नरोत्तमदास एम० ए०, बीकानेर	१०१) स्थायी कोष

प्राप्ति-तिथि	दाता का नाम	धन प्रयोजन
३१ आश्विन १९९९	संयुक्त प्रांतीय सरकार	५००) हिंदी पुस्तकों की खोज
५ कार्तिक ,,	,, ,, ,,	२५०) पुस्तकालय
१३ ,, ,,	म्युनिसिपल बोर्ड, बनारस	२००) कलाभवन
३० ,, ,,	श्री उमाशंकरजी, मुजफ्फरपुर	१००) स्थायी कोष
४ मार्गशीर्ष ,,	डा० जाफर हसन, हैदराबाद	१००) ,, ,,
७ ,, ,,	श्री विश्वमित्र, लायलपुर	६०) उपनिवेशों में हिंदी-प्रचार
८ ,, ,,	श्री अशोकजी एम० ए०, काशी	१००) स्थायी कोष
१६ ,, ,,	श्रीमती मालती देवी, बदायूँ	१००) ,, ,,
१७ ,, ,,	श्री केशवचंद्र शुक्ल, कानपुर	१००) ,, ,,
१८ ,, ,,	रायसाहब डा० सूरजप्रसाद श्रीवास्तव, मेरठ	१००) ,, ,,
२२ ,, ,,	राजा दलजितसिंह, शिमला	१००) कलाभवन
२५ ,, ,,	श्री अंबिकाप्रसाद श्रीवास्तव, काशी	१००) स्थायी कोष
२५ ,, ,,	श्री सेठ खुसालचंद डागा, बीकानेर	१०१) ,, ,,
२५ ,, ,,	श्री सेठ नारायणदास डागा, बीकानेर	१०१) ,, ,,
२५ ,, ,,	श्री विट्ठलदास डागा, बीकानेर	१०१) ,, ,,
२ पौष ,,	श्री राय कृष्णदास, काशी	५०) कलाभवन
२१ ,, ,,	श्री घनश्यामदास बिड़ला, बंबई	२५०) ,, ,,
२२ ,, ,,	श्री राय रामचरण, इलाहाबाद	१००) ,, ,,
२४ ,, ,,	श्री तोलाराम गुप्त, मुरादाबाद	१००) स्थायी कोष
६ माघ ,,	श्री तोलाराम बाँठिया, बीकानेर	१०१) ,, ,,
६ ,, ,,	सयुक्त प्रांतीय सरकार	५००) हिंदी पुस्तकों की खोज
१३ ,, ,,	,, ,, ,,	२५०) पुस्तकालय

प्राप्ति तिथि	दाता का नाम	धन	प्रयोजन
१३ माघ १९९९	श्री महाराज वीरेंद्रशाहजू देव बहादुर, जगम्मनपुर	१००)	स्थायी कोष
१४ ,, ,,	श्री साहु रामप्रसाद, बिजनौर	१००)	,, ,,
१४ ,, ,,	श्री केशवचंद्र, मुरादाबाद	१००)	,, ,,
१६ ,, ,,	म्युनिसिपल बोर्ड, बनारस	२१०)	पुस्तकालय
२३ ,, ,,	श्री सुधाकर एम० ए०, दिल्ली	१००)	स्थायी कोष
२३ ,, ,,	श्रीमती कमलावती देवी, कानपुर	१००)	स्थायी कोष
,, ,, ,,	,, ,, ,,	४००)	अर्द्धशताब्दी
२६ ,, ,,	श्री कन्हैयासिंहजी, कानपुर	१००)	स्थायी कोष
२६ ,, ,,	श्री चाँदबिहारी कपूर, काशी	१००)	,, ,,
२९ ,, ,,	माननीय सर जोगेंद्रसिंह, दिल्ली	१००)	कलाभवन
३० ,, ,,	श्री रामकुमार केजरीवाल, कलकत्ता	१००)	स्थायी कोष
		५००)	अर्द्धशताब्दी
		४००)	साधारण

बारहट बालाबक्स राजपूत चारण पुस्तकमाला

पुस्तकों के मूल्य में ५० प्रति शत कमी

जयपुर के स्व० श्री बारहट बालाबक्स जी के दान से यह पुस्तकमाला प्रकाशित की जाती है। इसमें राजपूताना के चारणों और भाटों आदि के उत्तमोत्तम काव्य-ग्रंथ प्रकाशित किए जाते हैं। इस माला में अब तक निम्नोक्त ९ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। राजस्थानी साहित्य के ये प्राचीन ग्रंथ बहुत ही उच्चकोटि के हैं और इन्हें बहुत परिश्रमपूर्वक संपादित करा कर प्रकाशित किया गया है। स्वर्गीय दाता की इच्छा के अनुसार सभा चाहती है कि ये ग्रंथ सबको सुलभ हों; इनका अधिक से अधिक प्रचार हो। इसी विचार से सभा ने इस माला की बाँकीदास ग्रंथावली, भाग २ के अतिरिक्त शेष सब पुस्तकों का मूल्य आधा कर दिया है। सर्व साधारण से, विशेषत: राजस्थान की साहित्य-प्रेमी जनता से, सभा का अनुरोध है कि इन ग्रंथों को अपनावें एवं इनके अधिकाधिक प्रचार में सभा का हाथ बटाने की कृपा करें।

(१) **बाँकीदास-ग्रंथावली** (तीन भाग)—कविराज बाँकीदास डिंगल-भाषा के महाकवि थे। बहुत ही ओजस्विनी और वीररसपूर्ण भाषा में उन्होंने कविता की है। इसके प्रथम भाग में उनके रचित सात, द्वितीय भाग में दस तथा तृतीय भाग में नौ ग्रंथ तथा एक संग्रह संकलित हैं। प्रत्येक भाग के आरंभ में उनमें संगृहीत कृतियों के संबंध में विद्वत्तापूर्ण भूमिका है। प्रत्येक भाग का घटा हुआ मूल्य क्रमशः ।), ।।।) तथा ।।=)

(२) **बीसलदेव रासो**—सं० श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए०। इस ग्रंथ का रचनाकाल संवत् १६६९ है। इसमें बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) के जीवन की मुख्य घटनाओं का बहुत ही उत्कृष्ट वर्णन है। कठिन शब्दों के अर्थ तथा उपयोगी टिप्पणियाँ भी दे दी गई हैं। पृष्ठ संख्या १७५, घटा हुआ मूल्य ।)

(३) **शिखर वंशोत्पत्ति**—सं० पुरोहित हरिनारायण शर्मा, बी० ए० कविवर गोपाल जी रचित यह सीकर राज्य का छंदोबद्ध इतिहास है। पृष्ठ संख्या १४२, घटा हुआ मूल्य ।=)

(४) व्रजनिधि-ग्रंथावली—सं० पुरोहित हरिनारायण शर्मा, बी० ए०। इसमें जयपुराधीश स्वर्गीय श्री सवाई प्रतापसिंह जी देव 'व्रजनिधि' रचित २३ काव्यग्रंथ संगृहीत हैं। आरंभ में उपादेय प्रस्तावना और कवि का जीवन-चरित्र भी है। पृष्ठ संख्या लगभग ४७५; घटा हुआ मूल्य १॥)

(५) ढोला-मारूरा दूहा—सं० श्री रामसिंह, एम० ए०; श्री सूर्यकरण पारीक, एम० ए०; श्री नरोत्तमदास स्वामी, एम० ए०। यह राजपूताने का बहुत ही लोकप्रिय काव्य है। इस प्रेम-गाथा में नरवर के राजकुमार ढोला और उसकी प्रियतमा पूगल की राजकुमारी मारुवणी तथा मालवा की राज-कन्या मालवणी की कहानी का बहुत ही सरस और हृदयस्पर्शी वर्णन है। पृष्ठ-संख्या ९०० से ऊपर, घटा हुआ मूल्य २)

(६) रघुनाथ रूपक गीतांरो—संपादक श्री महताबचंद खारैड़, विशारद। महाकवि मंछ कृत इस ग्रंथ में श्री रामचंद्रजी की कथा का बहुत ही कवित्वपूर्ण वर्णन है; साथ ही यह डिंगल भाषा का अत्यंत प्रामाणिक रीति-ग्रंथ भी है। डिंगल छंदों के हिंदी शब्दार्थ तथा भावार्थ भी दे दिए गए हैं। पृष्ठ-संख्या ३६०; घटा हुआ मूल्य १)

(७) राजरूपक—संपादक पंडित रामकर्ण जी आसोपा। रतनू चारण वीरभाण कृत यह ग्रंथ डिंगल का प्रसिद्ध वीररस-प्रधान ऐतिहासिक काव्य है। आरंभ में ६० पृष्ठों में ग्रंथ का सारांश है। पाद-टिप्पणी में छंदों के कठिन शब्दों का अर्थ भी दे दिया गया है। पृष्ठ-संख्या ६०+८२३; घटा हुआ मूल्य २॥)

अर्द्ध-शताब्दी उत्सव

सम्मानित सभासद्-गण,

१. आप जानते हैं कि सभा का अर्द्धशताब्दी-उत्सव आगामी वसंत-पंचमी पर मनाया जायगा। उसी समय विक्रम-जयंती भी होगी। राष्ट्र और राष्ट्रभाषा के इस महायज्ञ में सम्मिलित होने के लिये सभा आपको अभी से सादर, सप्रेम और साग्रह निमंत्रित करती है।

२. इस वर्ष आपको नागरीप्रचारिणी पत्रिका हर तीसरे महीने न मिलकर उक्त उत्सव के समय एकत्र मिलेगी, जिसमें राष्ट्रभाषा और विक्रम-संबंधी चुने हुए उत्तमोत्तम लेख रहेंगे। यह विशेषांक उन्हीं सज्जनों को मिलेगा, जो स्थायी अथवा विशिष्ट सदस्य हैं अथवा जिनका वार्षिक चंदा इसी समय आ जायगा।

३. इस बार वर्ष भर की चारों संख्याएँ एक साथ निकलने के कारण पत्रिका का पहला अंक साधारण सभासदों की सेवा में वी० पी० से न जा सकेगा। अतः प्रार्थना है कि आप अपना वार्षिक चंदा मनीआर्डर या पोस्टल आर्डर से भेज दें। अथवा वार्षिक विवरण जब वी० पी० से जाय, तब उसे स्वीकृत करने की कृपा करें।

४. कागज की कमी के कारण पत्रिका के विशेषांक की बहुत ही परिमित प्रतियाँ छप सकेंगी। सभा के सदस्यों को देने के बाद जो प्रतियाँ बच रहेंगी, वे हिंदी-प्रेमियों को १०) में मिलेंगी।

५. एक विशेष प्रार्थना और है। जो सज्जन साधारण सदस्य हैं, वे कृपा कर १००) देकर स्थायी बन जायँ। जो सज्जन स्थायी सदस्य हैं, वे ४००) और देकर विशिष्ट सदस्य बन जायँ। इससे अर्द्धशताब्दी उत्सव की सफलता में विशेष सहायता मिलेगी। ये रुपये एक साथ न देकर किस्त से भी दिए जा सकते हैं।

६. आप लोग सभा के साधारण, स्थायी और विशिष्ट सदस्य बनाने का विशेष रूप से प्रयत्न करें। उत्सव की सफलता के लिये भी यथासाध्य धन से सभा की सहायता करें और दूसरों से सहायता दिलाएँ। समय बहुत कम है।

आशा है, इन प्रार्थनाओं पर सब सज्जन विशेष रूप से ध्यान देंगे।

विनीत

रामचंद्र वर्मा
प्रधान मंत्री

रामनारायण मिश्र
रामदेव चोखानी
उपसभापति

पत्रिका का विक्रमांक

संवत् १९५० विक्रमी में नागरी लिपि तथा हिंदी भाषा और साहित्य की रक्षा, प्रचार एवं उन्नति के उद्देश्य से काशी-नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना हुई थी। अगले वर्ष सभा के ५० वर्ष और सुयोगतः विक्रम-संवत् के २००० वर्ष पूरे हो जायँगे। यह एक महत्त्वपूर्ण सुयोग होगा। सभा ने यह संकल्प किया है कि उसके इतिहास में यह सुयोग यथेष्ट महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो, संवत् २००० में सभा की अर्धशताब्दी और विक्रम-संवत् की द्विसहस्राब्दी की पूर्ति पर, वसंतपंचमी के मंगल अवसर पर एक गौरवमय और स्मरणीय महोत्सव मनाया जाय। इस महोत्सव की पूरी आयोजना पत्रिका में तथा अन्यत्र निवेदित हो चुकी है।

इस आयोजना में पत्रिका का एक विशेषांक प्रस्तुत करने का हमारा संकल्प भी है। सभा की एवं नागरी-हिंदी की पचास वर्षों की प्रगति का इतिहास तथा विक्रम-संवत् का निर्णयात्मक इतिहास आयोजना के स्फुट अंग हैं। पत्रिका का विशेषांक, पत्रिका के उद्देश्यों के तथा इस अवसर के अनुकूल, एक युगांतरकारी भारतीय विक्रम के इस ऐतिहासिक स्मारक विक्रम संवत् के इन दो सहस्र वर्षों में विभिन्न क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता के विक्रम अर्थात् विकास या प्रगति के सिंहावलोकन, परीक्षण-विवेचन के रूप में होगा। अतः यह विशेषांक एक विशेष योजना का विक्रमांक होगा।

इस योजना का विस्तार इस प्रकार होगा—

१—विक्रम—दो सहस्र वर्ष पूर्व विक्रम की ऐतिहासिक स्थापना और उसके आदर्श।

२—विक्रमचक्र—विक्रम के दो सहस्र वर्षों का मुख्य प्रवृत्तियों, पुरुषों तथा घटनाओं का कालचक्र।

३—विक्रम के दो सहस्र वर्षों में भारत तथा बृहत्तर भारत के भौगोलिक मान की अवस्थाएँ।

४—विक्रम के दो सहस्र वर्षों में भारतीय वंश-विकास।

५— ,, ,, ,, समाजव्यवस्था-विकास, जातिभेद।

६— ,, ,, ,, रहन-सहन तथा वेषभूषा का विकास।

७— ,, ,, ,, पर्व-उत्सवों का विकास।

८— ,, ,, ,, धर्म-विकास।

९—विक्रम के दो सहस्र वर्षों में भारतीय दर्शन-विकास।
१०— „ „ „ आचार-नीति-विकास
११— „ „ „ या हिंदू-कानून-विकास।
१२— „ „ „ विज्ञान-विकास।
१३— „ „ „ (मध्यदेशीय) भाषा-विकास।
१४— „ „ „ „ लिपि-विकास।
१५— „ „ „ „ साहित्य विकास।
१६— „ „ „ शिल्पकला-विकास।
१७— „ „ „ शिक्षा-विकास।
१८— „ „ „ राजनीतिक प्रगति।
१९— „ „ „ आर्थिक प्रगति।
२०— „ „ भारत और बृहत्तर भारत तथा अन्य देशों के पारस्परिक संबंध की प्रगति।

लगभग बीस बीस पृष्ठों के इन विषयों के बीस लेखों से ४०० पृष्ठों का ऐसा विक्रमांक उक्त महोत्सव में प्रस्तुत करने का हमारा संकल्प है। इसकी यथेष्ट पूर्णता से पत्रिका के अवसरानुरूप विक्रम का एक विशेष अंक स्थापित हो यह आशंसा हमारे साथ हमारे कृपालु लेखकों तथा पाठकों को भी है और एतदर्थ उनका उत्साहपूर्ण सहयोग तथा स्वागत भाव प्राप्त होगा इसका हमें विश्वास है।

लेखकों से हमारा आग्रह है कि उपर्युक्त विषयों में से अपनी रुचि तथा अधिकार के विषय या संभवतः विषयो पर निर्धारित पृष्ठ-संख्या के अपने सुलिखित लेख यथासंभव शीघ्र भेजने की कृपा करें। लेखों के संपादन-मुद्रण का कार्य शीघ्र ही आरंभ होने को है।

पाठकों से हमारा निवेदन है कि पत्रिका का यह विशेषांक परिस्थितिवश वर्ष के चार अंकों का सम्मिलितांक होगा और अब अगला अंक यही होगा। इसका मुद्रण नियत संख्या में ही होगा। अतः पाठक सभा की अपनी सदस्यता या पत्रिका की ग्राहकता अभी से निश्चित कर लेने की कृपा करें।

कृष्णानंद
संपादक

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

त्रैमासिक

[नवीन संस्करण]

वर्ष ४७—संवत् १९९९

संपादक-मंडल

केशवप्रसाद मिश्र   वासुदेवशरण अग्रवाल

पद्मनारायण आचार्य   कृष्णानंद (संपादक)

वार्षिक सूची

विषय पृष्ठ

चयन

समीक्षा

गुलेरी-ग्रंथ

(पहला भाग)

अमर कृता स्व० श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी की समस्त कृतियों का संग्रह उपर्युक्त नाम से प्रकाशित करने का सभा का विचार है। संपूर्ण ग्रंथ तीन खंडों का होगा। पहले खंड का पहला भाग लगभग तैयार है। इसमें उनके ऐतिहासिक लेखों का संग्रह है। पृष्ठ-संख्या लगभग ३००; मूल्य १॥)।